

आर्यसमाज के दस नियम

मानव उत्थान का सार्वभौम विधान



डॉ० भवानीलाल भारतीय

प्रकाशक :

आर्य प्रकाशन

814, कुण्डेवालान, अजमेरी गेट,

दिल्ली-110 006,

दूरभाष : 011-23233280

फैक्स : 011-23213280

लेखक :

डॉ० भवानी लाल भारतीय

8/423, नन्दनवन, जोधपुर (राजस्थान)

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित।

संस्करण : प्रथम : 2008

मूल्य: 15.00 रुपये

कम्प्यूटर टाईप सैटिंग :

अशोका कम्प्यूटर्स

बी-201, नत्थूपुरा,

दिल्ली-110 084

मो० : 09990978567

भूमिका

आर्यसमाज की स्थापना चैत्र शुक्ला पंचमी १९३२ वि०, शनिवार, तदनुसार १० अप्रैल, १८७५ को बम्बई में हुई थी। उस समय इस संस्था के २८ नियम स्वीकार किए गए थे, जिनमें सिद्धान्तों तथा संगठन विषयक धाराओं को एकसाथ सम्मिलित कर लिया गया था। इन नियमों का सर्वप्रथम प्रकाशन बम्बई से ही १९३२ वि० (१८७६ ई०) में एक पुस्तक के रूप में हुआ जिसका नाम था "श्री आर्यसमाज ना नियमो" और यह यूनियन प्रेस बम्बई में मुद्रित हुई थी। इस पुस्तिका के प्रारम्भ में आर्यसमाज की स्थापना-तिथि के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख मिलते हैं —

श्री

आर्यसामज

स्थापना सम्वत् १९३१ ना चैत्र शुद ५ ने शनिवार।

यह ध्यातव्य है कि विक्रम संवत् १९३१ का यहां जो उल्लेख हुआ है, वह गुजराती पंचांग के अनुसार है। उत्तर भारत में प्रचलित काल-गणना के अनुसार उसे १९३२ वि० समझना होगा। इस पुस्तिका की लिपि देवनागरी, किन्तु भाषा गुजराती है। पुस्तिका के अन्तिम भाग में आर्यसमाज बम्बई के प्रारम्भिक सभासदों के नाम अंकित हैं तथा प्रत्येक सभासद के नाम के आगे उसकी जाति, व्यवसाय तथा शिक्षा का भी उल्लेख किया गया है। इस सूची में संख्या ३१ पर स्वामी दयानन्द का उल्लेख निम्न प्रकार से मिलता है —

क्रमांक	नाम	जाति	व्यवसाय	शिक्षा
३१	पं० दयानन्द सरस्वती स्वामी	ब्राह्मण	संन्यासी	संस्कृत और वैदिक संस्कृत

यह पुस्तिका आर्यसमाज बम्बई की स्थापना के ११ मास पश्चात् ही प्रकाशित हुई थी। इस अवधि में आर्यसमाज बम्बई के साप्ताहिक सत्संगों में विविध विषयों

पर विभिन्न वक्ताओं के लगभग ५० व्याख्यान हुए थे। पुस्तिका के अन्त में इनमें से कुछ व्याख्यानों के शीर्षक तथा वक्ताओं के नाम भी मुद्रित हैं। इस प्रकार धरती के प्रथम आर्यसमाज के प्रथम वर्ष का विवरण जानने की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व निर्विवाद है।

१८७७ ई० में लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। उस समय यह आवश्यक समझा गया कि आर्यसमाज के उद्देश्यों अथवा नियमों के अन्तर्गत उन्हीं सिद्धान्तों को सूत्रित किया जाना चाहिए जो इस संस्था की मूलभूत मान्यताओं के आधार बिन्दु हैं, परन्तु उपनियमों के अन्तर्गत इस संगठन को संचालित करने वाले संवैधानिक ढाँचे को सूत्रबद्ध किया जाना उचित है। इस प्रकार आर्यसमाज के नियमों के अन्तर्गत जिन बातों का उल्लेख हुआ है वे सार्वभौम, सार्वकालिक तथा अपरिवर्तनीय हैं, जबकि उपनियमों में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार नियमों और उपनियमों का पृथक्शः निर्धारण हो जाने पर उन्हें प्रथम बार आर्यसमाज लाहौर ने 'मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस' में मुद्रित कराकर प्रकाशित किया। कालान्तर में इन नियमों और उपनियमों का प्रकाशन अनेक संस्थाओं और प्रकाशकों द्वारा हुआ है। सार्वदेशिक सभा ने समय-समय पर उपनियमों के अधिकृत रूप को प्रकाशित किया है। आर्यसमाज के नियमों के अनुवाद अनेक प्रान्तीय तथा विदेशी भाषाओं में हुए हैं, जबकि उपनियमों का अंग्रेजी अनुवाद राय ठाकुरदत्त धवन तथा पं० गंगाप्रसाद जज द्वारा किया गया था।

आर्यसमाज के इन नियमों को सर्वाधिक व्यापक तथा सर्वसामान्य के लिए स्वीकरणीय कहा जा सकता है। इस दृष्टि से उन्हें विश्व-मानवता के लिए निर्मित आदर्श विधान कहना अधिक उपयुक्त होगा। समय-समय पर इन नियमों की सारगर्भित व्याख्याएं प्रबुद्ध आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा की गई हैं। स्वामी दयानन्द के समकालीन तथा उन्हीं के द्वारा "परोपकारिणी सभा" के उपमन्त्री पद पर नियुक्त पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने इन नियमों की प्रथम बार व्याख्या लिखी तथा उनका शास्त्रीय आधार प्रस्तुत किया। वह व्याख्या १८९७ ई० में प्रकाशित हुई थी। स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर स्वामी सत्यप्रकाश यति द्वारा लिखी गई आर्यसमाज के नियमों की एक अन्य व्याख्या प्रकाशित हुई। इसमें इन नियमों की पुष्टि में वेद मन्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत किए गए थे। कालपी- (जिला कानपुर)-निवासी पण्डित शिवचरणलाल सारस्वत ने भी आर्यसमाज के नियमों की

वेद-मन्त्रों से संगति स्थापित करने की दृष्टि से एक ग्रन्थ लिखा था जो १८९८ ई० में प्रकाशित हुआ। कुछ अन्य व्याख्याओं में पं० रघुनाथप्रसाद पाठक लिखित 'दशनियम व्याख्या', स्वामी सत्यानन्द-रचित 'आर्यसामाजिक धर्म', जगदीशचन्द्र विद्यार्थी-कृत 'स्वर्ण सिद्धान्त', प्राध्यापक भद्रसेन लिखित 'जीवन-विकास के सर्वांगीण सूत्र' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। विशिष्ट नियमों की व्याख्याएं भी पुस्तकाकार में छपी हैं। पं० गणेशप्रसाद शर्मा ने वेद-विषयक तृतीय नियम की व्याख्या प्रस्तुत की, जबकि पं० शिवपूजनसिंह कुशवाह ने ईश्वर के स्वरूप की व्याख्यारूप में निबद्ध द्वितीय नियम का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

आर्यसमाज के इतिहास में एक समय ऐसा भी आया था, जब एक विवाद ने जन्म लिया कि क्या आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार करने के लिए दस नियमों को मानना ही पर्याप्त है अथवा स्वामी दयानन्द के उन सभी मन्तव्यों की यथार्थता को स्वीकार करना भी आवश्यक है, जो वेदादि शास्त्रों के आधार पर उनके ग्रन्थों में निबद्ध हुए हैं? 'दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, लाहौर' के प्रथम आचार्य तथा कालान्तर में 'विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान' के संस्थापक व संचालक विश्वबन्धु शास्त्री ने रायबहादुर मूलराज की सह पाकर "दश प्रश्नी" शीर्षक एक पुस्तिका लिखी तथा उसे दयानन्द-निर्वाण-अर्धशताब्दी-समारोह के अवसर पर अजमेर में एकत्रित आर्य पुरुषों में वितरित किया। इसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि आर्यसमाज के सदस्य बनने के लिए दस नियमों को स्वीकार करना ही पर्याप्त है, स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रति शतप्रतिशत आस्था व्यक्त करना आवश्यक नहीं है। जिस प्रयोजन से "दश प्रश्नी" का प्रकाशन किया गया था, यदि वह पूरा हो जाता तो निश्चय ही आर्यसमाज में दृष्टिभ्रम तथा बुद्धिभेद पैदा होता। इसी आशंका का निवारण करने के लिए आर्यसमाज के दूरदर्शी नेता तथा स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रति निष्कपट आस्था करने वाले महात्मा हंसराज ने "दश प्रश्नी" की समीक्षा लिखी। इसमें यह स्पष्ट किया गया कि दस नियमों को स्वामी दयानन्द की मान्यताओं से किसी भी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता। महात्मा हंसराज की यह पुस्तक प्रथमतः "हिन्दी मिलाप" (लाहौर) के ६ नम्बर १९३३ के अंक में प्रकाशित हुई। कालान्तर में इसे आर्य प्रादेशिक सभा ने पृथक् पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया।

आर्यसमाज के नियमों को संस्कृत-छन्दों में काव्यबद्ध करने का श्रेय स्वामी

दयानन्द के प्रत्यक्ष शिष्य तथा लेखक पं० ज्वालादत्त शर्मा को है। उन्होंने “दश नियम शिखरिणी” शीर्षक से इनका काव्यानुवाद किया जो ‘वैदिक यन्त्रालय, अजमेर’ से १९५० वि० में प्रकाशित हुआ। संस्कृत के यशस्वी कवि पं० अखिलानन्द शर्मा ने ‘आर्यनियमोदय काव्य’ लिखकर इन नियमों को काव्य रूप प्रदान किया। इस काव्य पर उन्होंने स्वयं संस्कृत तथा हिन्दी में टीकाएं लिखीं। भारत की अन्य भाषाओं में भी इन नियमों पर कुछ व्याख्याएं लिखी गई हैं। इनमें से कुछ तो स्वामी सत्यानन्द तथा जगदीशचन्द्र विद्यार्थी लिखित ग्रन्थों के अनुवाद ही हैं। अंग्रेजी में पं० चमूपति ने आर्यसमाज के नियमों की प्रौढ़ एवं प्रभावशाली व्याख्या लिखी, जो *The Ten Commandments of Swami Dayanand* शीर्षक से लाहौर से प्रकाशित हुई थी। कालान्तर में इनके अनेक संस्करण अनेक संस्थानों से निकले। प्राचार्य अविनाशचन्द्र बोस तथा पूर्णचन्द्र एडवोकेट लिखित व्याख्या-ग्रन्थ भी उपयोगी हैं।

राजपाल एण्ड संस के संचालक श्री विश्वनाथ जी ने जब मुझे आर्यसमाज के नियमों की सरल, भावपूर्ण तथा चिन्तनपरक व्याख्या लिखने का परामर्श दिया तो मैंने बिना विलम्ब किए इस कार्य को हाथ में ले लिया। फलतः प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के समक्ष आ सकी है। मेरे विचार से संसार के किसी अस्तिक तथा मानवहित को सर्वोपरि मानने वाले संगठन का इससे उत्तम घोषणा-पत्र दूसरा नहीं हो सकता। यह तो सम्भव है कि ईश्वर के अविश्वासी प्रथम दो नियमों से सहमत न हों, तथा वेदों के प्रति आर्यों के तुल्य आस्था न रखने वाले लोग तीसरे नियम को स्वीकार न करें, किन्तु अवशिष्ट सात नियमों को मान्य करने में किसी भी विचार शील मनुष्य को आपत्ति नहीं हो सकती। परिशिष्टों में कुछ अतिरिक्त जानकारी दी गई है। आशा है सम्पूर्ण मानवता के उत्थान के लिए प्रस्तुत आर्यसमाज के नियमों की यह सुबोध व्याख्या पाठकों के मनुकूल सिद्ध होगी।

— (डॉ०) भवानीलाल भारतीय

शरद पूर्णिमा २०६४ वि०
नन्दनवन, जोधपुर

आर्यसमाज के दस नियमों की व्याख्या

“सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।”

नियम १ :

ईश्वर विषयक अवधारणा

आर्यसमाज आस्तिक व्यक्तियों का, ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वालों का समुदाय है। इसके संस्थापक स्वयं पक्के ईश्वर विश्वासी तथा उसकी सर्वोच्च सत्ता में श्रद्धा रखने वाले महापुरुष थे। आर्यसमाज की स्थापना के समय इसके २८ नियम बनाए गए थे जिनमें सिद्धान्तों और मन्तव्यों के साथ-साथ संस्था संचालन तथा संगठन विषयक नियम भी थे। दो वर्ष पश्चात् १८७७ में जब लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई तो यह निश्चय किया गया कि आर्यसमाज के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों को नियमों के अन्तर्गत सूत्रित एवं परिभाषित किये जायें जबकि संस्था-संचालन एवं संगठन विषयक उपनियम पृथक् रहें। धारणा यह थी कि नियम और उद्देश्य वे सिद्धान्त हैं जो सदा सर्वदा स्वीकार्य, शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय हैं जबकि उपनियम समय एवं परिस्थितिवश बदले जा सकते हैं। फलतः दस नियमों की रचना हुई। इनका प्रथम पुस्तकाकार प्रकाशन आर्यसमाज लाहौर ने मेडिकल हॉल प्रेस बनारस में मुद्रित कराकर १८७८ में किया। इसकी एक प्रति ब्रिटिश म्यूजियम लंदन में तथा दूसरी इस लेख के लेखक के संग्रह में है।

सच्चे ईश्वर विश्वासी दयानन्द ने आर्यसमाज का आधार परमात्मा की सत्ता में आस्था को बनाया तथा आरम्भ के दो नियमों में ईश्वर के अस्तित्व की उद्घोषणा तथा उसके स्वरूप का निरूपण किया। प्रथम नियम का पाठ इस प्रकार है :—

सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

यों तो संसार में प्रचलित अधिकांश मत-मतान्तर ईश्वर में अपनी आस्था व्यक्त करते हैं, यद्यपि ईश्वर के स्वरूप एवं गुणों को लेकर मत विभिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है। तथापि कतिपय दार्शनिक विद्वान् परमात्मा की सर्वोच्च सत्ता को एकान्ततः अस्वीकार करते हैं। चार्वाक ने परमात्मा की सत्ता से इन्कार किया। बौद्ध धर्म में परमात्मा को लेकर कोई स्पष्ट धारणा नहीं है। प्रायः बुद्ध को अज्ञेयवादी (agnostic) कहा जाता है जिन्होंने परमात्मा का न तो समर्थन किया और न निराकरण। जैन मत ईश्वरवादी तो है किन्तु वे संसार के रचयिता किसी सर्वशक्तिमान् ईश्वर से इन्कार करते हैं। उनकी दृष्टि में, कैवल्य स्थिति को प्राप्त वीतराग तीर्थंकर एवं जैन साधु ही ईश्वर हैं। उनकी पूजा, वंदना तथा सेवा प्रत्येक को अभीष्ट है। भारत के इतिहास में एक समय ऐसा आया था जब यहां सर्वत्र जैन एवं बौद्ध मत का बोलबाला था। ईश्वरवादी आस्तिक आर्यधर्म (इसे ही इतिहासकारों ने ब्राह्मण धर्म कह कर एक संकीर्ण धारा में बांध दिया है) का प्रायः लोप हो गया था। उस संक्रान्ति काल में भगवत्पाद शंकराचार्य ने उपनिषद्, गीता, तथा ब्रह्मसूत्रों की अद्वैतपरक व्याख्या कर ब्रह्म की एक, अद्वितीय सत्ता की स्थापना की। दूसरी ओर नैयायिक विद्वान् आचार्य उदयन ने अपनी प्रसिद्ध दार्शनिक रचना न्याय कुसुमांजलि के द्वारा परमात्मा की सत्ता का सतर्क निरूपण किया। उन्होंने इस ग्रन्थ में नास्तिकों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व के प्रति उठाई गई शंकाओं का समाधान कर परमात्मा की सत्ता को दृढ़ता से स्थापित किया। कुसुमांजलि की प्रथम कारिका में उदयन ने ईश्वर की सत्ता में निम्न हेतु प्रस्तुत किये :—

(१) यह सृष्टि एक कार्य है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होता है। वस्त्र का कर्त्ता जुलाहा (तन्तुवाय) है तो घड़े का रचयिता कुम्हार है। यह संसार जिस रूप में है वह कृति है, रचना है। अतः उसका रचयिता भी अवश्य होगा। वह ईश्वर ही है। कृति का कर्त्ता, रचना का रचयिता अवश्य होता है।

(१) इस सृष्टि में हमें व्यवस्था दिखाई देती है, एक विशिष्ट आयोजना के दर्शन होते हैं। यथा समय सूर्योदय एवं सूर्यास्त, सभी ग्रह-नक्षत्रों का यथा नियम भ्रमण, सूर्य-चन्द्र ग्रहण आदि सभी भौतिक व्यापार एक व्यवस्था के अन्तर्गत यथा समय होते दिखाई देते हैं। जैसे सांसारिक क्रियाकलापों में दिखाई देने वाली व्यवस्था, सामंजस्य तथा आयोजक का हाथ होता है उसी प्रकार सृष्टि की आयोजना के पीछे उसके महान् संचालक परमात्मा से इन्कार नहीं किया जा सकता।

(३) सांसारिक वस्तुएं किसी न किसी आधार की आपेक्षा रखती हैं। पुस्तक का आधार मेज है, मेज कमरे के फर्श पर रखी है। कमरा या मकान अपनी नींव पर खड़ा है। इस प्रकार आधार के बिना कोई पदार्थ अपनी स्थिति नहीं रखता। विश्व ब्रह्माण्ड का धारणकर्ता परमात्मा हैं। 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'। इस वेदमन्त्र में परमात्मा को तेजस्वी द्युलोक, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष का धारणकर्ता बताया गया है। इसी प्रकार परमात्मा द्वारा जीव को ज्ञान प्रदान करने, संसार में सर्वत्र ईश्वर विश्वास का भाव तथा वेद प्रमाणों से परमात्मा की सत्ता को सिद्ध किया जा सकता है।

महर्षि पतंजलि ने स्वरचित योगदर्शन में परमात्मा को परिभाषित करते हुए निम्न सूत्र की रचना की —

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥

परमात्मा एक विशेष पुरुष है — (ब्रह्माण्डरूपी पुरी में शयन करने वाला) वह क्लेशों से कभी अभिभूत नहीं होता। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (मृत्यु से भय) पांच क्लेश हैं। इन क्लेशों से जीव तो पीड़ित होते हैं, किन्तु परमात्मा इनसे पृथक् है। परमात्मा मनुष्य की भांति आहार, निद्रा, भय, सन्तानोत्पादन आदि कर्मों से पृथक् है। उसे हर्ष, शोक, राग, द्वेष, सुख, दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निंदा स्तुति आदि द्वन्द्व पीड़ित नहीं करते। सांसारिक कर्मों से निर्लेप परमात्मा के कर्म दिव्य हैं — सृष्टि को उत्पन्न करना, पालन करना, यथासमय संहार करना, जीवों को कर्मानुसार फल देना आदि। जब ईश्वर को कोई लौकिक कर्तव्य अभीष्ट नहीं है तो वह उस कर्म के फल से भी पृथक् ही रहेगा। जैसे साधारण जीव शुभाशुभ कर्मों को कर तदनुसार उनका फल भोगता है, वैसा ईश्वर के लिए नहीं कहा जा सकता। जब वह कर्मफल का भोक्ता नहीं है तो उस पर उन कर्मों के संस्कार पड़ने का तो सवाल ही नहीं उठता। इसके विपरीत साधारण मनुष्य जैसे कर्म करता है, उसका फल भी उसे वैसा ही मिलता है और इन कर्मों के बार-बार करने के कारण उसके मन पर उसका संस्कार भी जम जाता है। ये संस्कार बार-बार स्फुट होकर जीव को उसी प्रकार के शुभाशुभ कर्म करने के लिए विवश करते रहते हैं।

उपनिषद्कार ने ईश्वर में ज्ञान की अवस्थिति, दिव्य कर्म करने का सामर्थ्य तथा अपूर्व बल की विद्यमानता तो बताई, किन्तु इस ज्ञान, बल तथा क्रिया को

उपार्जित न बताकर स्वाभाविक बताया — स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च। मनुष्य किसी गुरु या पुस्तक से ज्ञान प्राप्त करता है, परमात्मा में ज्ञान स्वतः स्फूर्त है। जीव धीरे-धीरे बल का उपार्जन कर बलशाली बनता है। परमात्मा का सामर्थ्य एवं बल सहज स्वाभाविक है। मानवी क्रियाएं अभ्यास जन्य हैं जबकि परमात्मा के कार्य अनायास, बिना किसी भौतिक साधन या संबल के यथानियम किए जाते हैं। वह अपने कर्मों में किसी सहायक की अपेक्षा नहीं रखता।

इस प्रकार परमात्मा को समस्त विद्याओं तथा ज्ञान-विज्ञान का मूल उत्स बताकर स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज को ईश्वरवादी आस्तिकों का संगठन बनाया। ऋषि ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में विस्तारपूर्वक लिखा है। द्वादश समुल्लास में अनीश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली युक्तियों को पूर्वपक्ष में रखकर उत्तर पक्ष में उनका सप्रमाण खण्डन किया है। दयानन्द ने परमात्मा के जिस स्वरूप तथा उसके दिव्य गुणों-लक्षणों का उल्लेख किया, वे सब, वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि आर्य शास्त्रों में उल्लिखित हैं। परवर्ती, नानक, दादू, कबीर आदि निर्गुण सन्तों तथा राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन तथा देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि नवजागरण के पुरस्कर्ता महापुरुषों ने उस एक अद्वितीय, सच्चिदानन्दादि लक्षणान्वित परमात्मा का निरूपण किया है।

**“ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार,
सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा,
अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार,
सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर,
अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की
उपासना करनी योग्य है।”**

नियम २ :

परमात्मा का स्वरूप, गुण एवं लक्षण

चराचर जगत् के संचालक परमात्मा को निखिल विश्व का आधार तथा मूल घोषित करने के उपरान्त ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के दूसरे नियम में उस विश्व विधाता के स्वरूप एवं लक्षणों का यत्किंचित उल्लेख किया। सच तो यह है कि परमात्मा का सम्पूर्ण वर्णन एवं विवेचन अल्पज्ञ मनुष्य के सामर्थ्य के बाहर है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने परमात्मा के १०० नामों का संकेत मात्र उल्लेख किया, इन नामों की व्याकरण की व्युत्पत्ति के आधार पर व्याख्या भी की किन्तु अन्त में लिखा — “ये सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं। परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्यात नाम हैं क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वैसे ही उसके अनन्त नाम भी हैं।”

तथापि मानव अनादि काल से परमात्मा का गुणानुवाद करता रहा है, किन्तु क्या वह समग्रतया उसके गुणों एवं लक्षणों का उल्लेख कर पाया है? शैव मतावलम्बी स्तोत्रकार पुष्पदन्त ने परमात्मा के अनन्त गुणों का वर्णन करने में विद्या की अधिष्ठात्री देवी शारदा को भी असमर्थ बताया है —

**असितगिरि समं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रे,
सुरतरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वो।**

**लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥**

यदि समस्त पर्वतों की स्याही बनाएं, कल्प वृक्ष की शाखा की कलम बनाएं, धरती को कागज बना लें तथा इन साधनों से स्वयं सरस्वती लिखने लगे, तब भी हे नाथ! आपके गुणों का पार नहीं पाया जा सकता।

निर्गुण कवि कबीर ने उक्त संस्कृत सूक्ति को दोहे का रूप दिया —

सात समंद की मसि करों, लेखनि सब बन राय।

धरती सब कागद करों हरि गुण लिख्या न जाय॥

लगभग यही भाव कुरान के ११वें पारे के सूरे लुकमान के अन्तर्गत आयत संख्या १७-१८ में इस प्रकार व्यक्त हुआ है — “बेशक अल्लाह ही तारीफ के काबिल है। और जमीन के जितने दरख्त हैं वे सब कलम हो जावें और सातों समन्दर यदि उसकी गदद करें अर्थात् स्याही बन जाएं तो भी खुदा की तमाम बातें पूरी न होवें।”

आलोच्य नियम में परमात्मा को सच्चिदानन्द स्वरूप बताया गया है। परमात्मा के लिए यह लक्षण सर्वोत्तम है क्योंकि सत्, चित और आनन्द आदि लक्षणों वाले परमात्मा की सर्वोच्च सत्ता को जड़ प्रकृति तथा चेतन जीव से उक्त गुणों के आधार पर पृथक् किया जा सकता है। प्रकृति सत् है, यथार्थ है किन्तु उसमें चेतना का अभाव है। जीव सत् होने के साथ-साथ चेतनायुक्त है किन्तु उसमें आनन्द नामक गुण का अभाव है। न्यायदर्शन के आचार्य गौतम ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान को आत्मा का चिह्न बताया है। निश्चय ही आनन्द उसका सहज गुण नहीं है। उपनिषदों में परमात्मा को अनेक नित्य जीवों में विशिष्ट नित्य, अनेक चेतन जीवों में विशिष्ट चेतना युक्त कहा गया है। ‘आनन्दमयो अभ्यासात्’ इस वेदान्त सूत्र से सिद्ध होता है कि जीवात्मा को आनन्द की प्राप्ति परमात्मा की निकटता से ही मिलती है। परमात्मा के यहां वर्णित अन्य गुणों का खुलासा स्वामी दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश तथा अन्य ग्रन्थों में विशेष रूप में किया है। उदाहरणार्थ — वे सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ नहीं करते कि परमात्मा सब कुछ कर सकता है। वह अपने नियमों के विपरीत कुछ नहीं करता। इसका अर्थ यही है कि वह अपने अनन्त

सामर्थ्य से अपना सारा कार्य करता है। न्यायकारी और दयालु ये दो गुण परमात्मा में विद्यमान हैं किन्तु इनमें कोई विरोध नहीं है। न्याय करना भी एक प्रकार से दया दिखाना ही है।

स्वामी दयानन्द की ईश्वर विषयक विवेचना का एक प्रमुख पक्ष उसे निराकार घोषित करना है। महाभारत के उत्तरवर्ती काल में राम, कृष्ण आदि पुरुषों को परमात्मा का अवतार मान लिया गया और इसी अवतारवाद के आधार पर परमात्मा के साकार होने की कल्पना की गई। परमात्मा के निराकार होने की घोषणा वेदों और उपनिषदों में सर्वत्र की गई है। 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' जैसे वाक्यों में परमात्म तत्त्व को नेत्रों का विषय नहीं माना गया। साकारवाद को मान्यता मिलने के कारण ही मूर्तिपूजा जैसे अनर्थ उत्पन्न हुए और वैदिक उपासना पद्धति तथा महर्षि पतंजलि निर्दिष्ट योग साधना का लोप हो गया। अब तो पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं जैसे भौतिक उपकरणों से ही परमात्मा की षोडशोपचार पूजा होने लगी। मन्दिरों और मूर्तियों के आडम्बर में वृद्धि हुई और जड़ पूजक हिन्दू सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले परमात्मा से विमुख हो गए।

स्वामी दयानन्द ने परमात्मा के इन गुणों एवं लक्षणों की व्याख्या के प्रसंग में सगुण को साकार समझने की भ्रान्ति का भी निराकरण किया। उन्होंने ईश्वर को निर्गुण तथा निराकार तो कहा किन्तु सृष्टि रचना, पालन एवं संहार में समर्थ, दयालुता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनादिता, नित्यता, पवित्रता आदि गुणों के कारण सगुण ईश्वर को साकार का पर्याय नहीं बताया। परमात्मा भला साकार होकर एकदेशीय कैसे हो सकता है? मध्यकालीन हिन्दू धर्म में जितनी विकृतियाँ आईं उनका एकमात्र कारण सगुण और साकार को एक समझ लेना था। तुलसी के राम, सूर के कृष्ण तथा मीरा के गिरिधर अस्मदादि सदृश हाड-मांस के पुतले जीव थे। इसे भुलाकर उन्हें निर्गुण परमात्मा का समकक्ष मान लिया। सूरदास जैसे कवियों ने तो 'निर्गुण कौन देस को बासी' जैसे उपालम्भ वाक्यों के द्वारा वेद-उपनिषद् प्रतिपादित 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' परमात्मा का उपहास करने में कोई कसर नहीं रखी। चार्वाक तथा जैनों ने किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्वीकार नहीं किया किन्तु नैयायिकों ने सतर्क सिद्ध किया कि सृष्टि कार्य है तो उसका निमित्त कारण परमात्मा अवश्य होना चाहिए। द्वितीय नियम में ऋषि दयानन्द ने परमात्मा के निम्न २२ गुण या लक्षण बताए हैं। (१) सच्चिदानन्द स्वरूप, (२)

निराकार, (३) सर्वशक्तिमान्, (४) न्यायकारी, (५) दयालु, (६) अजन्मा, (७) अनन्त, (८) निर्विकार, (९) अनादि, (१०) अनुपम, (११) सर्वाधार, (११) सर्वेश्वर, (१३) सर्वव्यापक, (१४) सर्वान्तर्यामी, (१५) अजर, (१६) अमर, (१७) अभय, (१८) नित्य, (१९) पवित्र, (२०) सृष्टिकर्ता, (२१-२२) सत्-चित् और आनन्द की पृथक् गणना करने से यह संख्या २२ हो जाती है।

दूसरे नियम का सर्वोपरि महत्त्व का अंश है — उसी की उपासना करनी योग्य है। स्वामी दयानन्द के विचार से एकमात्र परमात्मा ही जीवात्मा का सेव्य, आराध्य, उपास्य एवं वंदनीय है। विडम्बना यह है कि आज मानव ने जड़ पदार्थों — धातु, पत्थर से निर्मित मूर्तियों, गौ आदि पशुओं, पीपल, बट आदि वृक्षों, हिमालयादि पर्वतों, गंगादि नदियों, पुष्कर आदि तालाबों तथा त्रिवेणी आदि संगम स्थलों को पूज्य मान लिया जब कि सच्चिदानन्दादि लक्षणान्वित परमात्मा उसके लिए पूजनीय नहीं रहा। जिस तिस के आगे सिर झुकाना, जड़ पदार्थों पर पुष्पों, फलों और मिष्ठान्न चढ़ाना, गंगा और यमुना के पुल को पार करते समय नदी में सिक्के चढ़ाना, काली और भैरव आदि तामसी देवताओं के समक्ष बकरे, भैंसे, भेड़, आदि पशुओं की बलि देना जैसे अमानवीय पूजा उपकरणों के प्रयोग ने हिन्दू मात्र को नास्तिक तथा ईश्वर का निरादर करने वाले मनुष्यों की कोटि में पहुंचा दिया है।

दयानन्द के प्रति निखिल मानव जाति को इस बात के लिए कृतज्ञ होना चाहिए कि उसने उसे जड़ पूजा से विरत होकर सत्-चित्त आनन्दरूप परमात्मा की उपासना करने का पाठ पढ़ाया। दयानन्द के ईश्वरवाद की दो मुख्य विशेषताएं हैं — (१) बहुदेववाद का प्रत्याख्यान कर 'एकमेवाद्वितीयम्' परमात्मा का उद्घोष, (२) परमात्मा के स्थान पर जड़ पदार्थों, क्षुद्रमनस्क गुरुओं, गद्दीधारी, आपादमस्तक सांसारिकता में लिप्त महन्तों, मठाधीशों तथा स्वयंभू भगवानों (बाबाओं) की पूजा में निमग्न भारतवासियों को वेदोपनिषद् प्रतिपादित अकाय, अस्नाविर, अपापविद्ध, कवि, मनीषी, परिभू, स्वयंभू परमात्मा की उपासना का उपदेश।

“वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना—पढ़ाना और सुनना—सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।”

नियम ३:

ऋषि दयानन्द की वेद—विषयक उद्घोषणा

अखिल सृष्टि के रचयिता, विधाता तथा संहारकर्ता परमात्मा के स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय ज्ञान वेद के विषय में आर्यों के अभिप्राय को तीसरे नियम में प्रस्तुत किया है। इस नियम के दो भाग हैं —

१. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।

२. वेद का पढ़ना—पढ़ाना और सुनना—सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

दयानन्द के वेदविषयक मन्तव्य पर जब हम विचार करते हैं तो अनेक बिन्दु उभरते हैं। भारतीय आर्य परम्परा में सर्वत्र वेदों को ईश्वर का ज्ञान स्वीकार किया गया है। वेदान्त-प्रवक्ता महर्षि बादरायण ने वेदादि शास्त्रों को परमब्रह्म से उत्पन्न बताया— शास्त्रयोनित्वात्। उधर महर्षि कणाद ने परमात्मा का वचन होने से आम्नाय (वेद) को स्वतः प्रमाण माना है। वेद ज्ञान प्रदाता गुरु परमात्मा को योगदर्शन ने पूर्वजों का भी गुरु बताया जो काल के बंधन में नहीं आता—स पूर्वेषामपि गुरुःकालेनानवच्छेदात्। मन्वादि स्मृतिकारों ने वेद ज्ञान के प्रदाता तथा उसके द्वारा प्रदत्त इस ज्ञान की जैसी स्तुति की है, जैसा माहात्म्य कथन किया है, वह अद्भुत है, अपूर्व है, श्रवण—सुखद है, आह्लादजनक है। मनु के ऐसे श्लोकों की मात्र प्रतीक ही प्रस्तुत हैं—१. पितृदेवमनुष्याणां २. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः ३. सैनापत्यं च राज्यं च ४. वेदः स्मृतिः सदाचारः ५. वेदोखिलो धर्ममूलम् ६. यो अनधीत्य द्विजो न वेद आदि। पौराणिकों के अत्यन्त प्रिय भागवत ने भी कहा —

वेदप्रणिहितो धर्मः ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः। (भागवत)

जो वेद प्रतिपादित है, वही धर्म है, उसका विपरीत जो है, वह अधर्म है।

यह तो शास्त्र-प्रमाण की बात हुई, किन्तु जो वैदिक और आर्ष शास्त्रों के प्रमाण को ही नहीं मानते, उनके लिए महर्षि ने वेद के ईश्वरोक्त होने को युक्ति, तर्क तथा लौकिक न्याय से सिद्ध किया। यहां एक प्रश्न सहज रूप से उत्पन्न होता है—जब सभी प्राचीन और अर्वाचीन शास्त्र, आचार्य, सम्प्रदाय-प्रवर्तक तथा वैदिक (हिन्दू) धर्म के मान्यपुरुष वेदों की सर्वोपरि प्रामाणिकता से सहमत हैं, तो दयानन्द के एतद्-विषयक विचार में क्या नवीनता या मौलिकता है? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। प्रथम, यद्यपि अनादि काल से वेदों को परमात्मा का शाश्वत ज्ञान तथा समस्त विद्याओं का भण्डार होने के कारण धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य तथा आचार-विचार के निर्धारण में सर्वोपरि माना जाता रहा, किन्तु मध्यकाल में जब वेदों के पठन-पाठन का ह्रास हो गया, उस समय यह धारणा एक प्रौढोक्ति मात्र ही रह गई थी। केवल वाणी या लेखन के द्वारा तो वेद के प्रामाणिक होने की दुहाई दी जाती रही, किन्तु किसी आचार्य या धर्मप्रवक्ता ने यह नहीं बताया कि सचमुच इन वेदों में है क्या? इनका कथ्य क्या है, इनका प्रतिपाद्य क्या है और वेद का ज्ञान मनुष्य के लिए हितकारक क्यों है?

दयानन्द ने इसका उत्तर दिया। अन्य शब्दों में कहें तो उन्होंने वेदों को मानव के जीवन से जोड़ा। उनका स्पष्ट मत था कि वेदों की शिक्षाएं किसी देश, काल, वर्ण, लिंग, जाति, सम्प्रदाय या मानव समूह विशेष के लिए ही उपयोगी नहीं हैं, इनकी उपयोगिता (अन्य शब्दों में व्यावहारिकता) सार्वजनीन है, सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक है। यदि कोई शंका करे, तो वह वेद मन्त्रों के अभिप्राय को देखे और समझे, जिनमें आस्तिकता, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, विश्वमैत्री, परस्पर की सद्भावना, व्रतपालन जैसे उदात्त भावों का संग्रथन है। दयानन्द को यह कार्य क्यों करना पड़ा—वेदों के सार्वभौम तथा मानव कल्याणकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा क्यों करनी पड़ी? इसलिए कि मध्यकाल में वेदों को लेकर अनेक भ्रान्तिपूर्ण, अलीक एवं मिथ्या धारणाओं का प्रचलन हो गया था। इसके लिए मुख्यतः वे लोग जिम्मेदार थे, जो वेदों का प्रयोजन मात्र याज्ञिक क्रियाओं के सम्पादन में मानते हैं। कौत्स जैसे कतिपय ऋषि-संज्ञा-प्राप्त लोग ऐसे थे, जो वेदमन्त्रों का कोई अर्थ भी होता है, यह मानने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसे लोगों का समाधान करने के लिए आचार्य यास्क (सायण ने भी) ने भूरिशः लिखा। यह प्रकारण निरुक्त में देखा जा सकता है।

जैमिनीय सूत्रों में जब वेदों को क्रियार्थ बताया, तो उसका यह अभिप्राय नहीं

था, जैसा कालान्तर में कर्म-काण्ड-तत्पर याज्ञिकों ने लिया। यहां तो प्रत्येक वेद मन्त्र का किसी-न-किसी याज्ञिक कर्म में विनियोग करना अनिवार्य बन गया और सायण ने अपने वेदभाष्य में अनिवार्यतः प्रत्येक मन्त्र के विनियोग का उल्लेख किया, जबकि दयानन्द ने अपने भाष्य में मन्त्र के देवता, ऋषि, छंद तथा स्वर का निर्देश तो किया, किन्तु भूल कर भी विनियोग नहीं लिखा। इसका यह अर्थ नहीं कि दयानन्द यज्ञों में मन्त्रों के सार्थक विनियोग के विरुद्ध थे। उन्होंने तो अपनी वेद भाष्य भूमिका में स्पष्ट किया कि वेद मन्त्रों के जो युक्ति सिद्ध विनियोग सूत्र ग्रन्थों में लिखे हैं, वह उनसे संहमत हैं, किन्तु स्वभाष्य में उनका उल्लेख करना पिष्टपेषण ही होगा। तथापि दयानन्द कल्पनाप्रसूत, पाखण्ड, आडम्बर और अनाचार को प्रश्रय देने वाले मध्यकालीन कर्म-काण्ड के विराधी थे। ऐतरेय ब्राह्मण में रूपसमृद्ध विनियोगों को ही उचित कहा गया है, अर्थात् जो क्रिया आप करे और उस समय जिस मन्त्र का उच्चारण करे, उसमें क्रिया के भाव का लक्षित होना आवश्यक है। आचमन करते समय 'शन्नोदेवी' मन्त्र का उच्चारण सार्थक विनियोग है, क्योंकि इसमें शीतल जल के तुल्य शान्तिदायक परमात्मा से सर्वत्र सुखों की वर्षा करने की प्रार्थना की गई है। इसके विपरीत इस मन्त्र को नवग्रहों में एक शनैश्चर की पूजा में विहित बताना अनुचित है। कतिपय पौराणिक नवग्रहों की पूजा में वेदमन्त्रों के विनियोग को स्मार्तविधि कहकर उसका बचाव करते हैं, जो गलत है।

इसी प्रकार 'वाचं ते शुन्धामि' आदि यजुर्मन्त्रों को पशु बलि में विनियुक्त करना और यज्ञार्थ मारे जाने वाले पशु के ऊपर उपर्युक्त मन्त्र बोल कर जल छिड़कना वैसा ही अनर्थकारी है जैसा कोई वधिक बकरे के गले पर छुरा चलाते समय कुरान शरीफ के उस वाक्य को बोले जिसमें अल्लाह को रहमान और रहीम (दयालु और कृपालु) कहा गया है। दयानन्द की दृष्टि में वेद सम्पूर्ण ज्ञान है तथा सर्वविद्या-निधान है।

दयानन्द के समकालीन पाश्चात्य विद्वानों का वेदाध्ययन एक अन्य दृष्टि से प्रेरित था। ये लोग वेदों को प्राचीन आर्य जाति के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का इतिवृत्त मानते थे और इनकी सहायता से आर्यावर्त की प्राचीन आर्यजाति की जीवनशैली तथा उनके वैचारिक अवदान का मूल्यांकन करना चाहते थे।

ध्यातव्य है कि पश्चिम के विद्वानों ने वेदों का अध्ययन दयानन्द के आविर्भाव से कुछ पहले से ही आरम्भ कर दिया था। यथा, जिस समय स्वामी दयानन्द नर्मदा

के तटवर्ती अरण्यों में भ्रमण कर रहे थे, उस समय प्रो० मैक्समूलर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में बैठकर ऋग्वेद का सम्पादन कर रहा था। तथापि केवल कुछ समय पुराना होने से ही पश्चिमी विद्वानों का वेदाभ्यास सर्वथा त्रुटिरहित एवं निर्दोष नहीं माना जा सकता। हमारा निवेदन है कि वेदों के अध्ययन के लिए उस परम्परा, परिवेश तथा अध्ययन-अध्यापन की उस पुरानी प्रणाली को जानना आवश्यक होता है, जो भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रही है। इससे भिन्न १९वीं शताब्दी में पैदा हुए तुलनात्मक भाषा विज्ञान (कम्पेरेटिव फिलोलोजी), तुलनात्मक देवगाथावाद (मॉयथोलॉजी) तथा डार्विन द्वारा आविष्कृत विकासवाद के मानदण्डों के आधार पर वेदों का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। तुलनात्मक भाषा विज्ञान ने भी वेदों की भाषा को सर्वाधिक प्रचीन तथा उसके लचीलेपन को सिद्ध किया तथा तुलनात्मक देवगाथावाद ने एक सीमित क्षेत्र में जाकर वैदिक एवं यूनानी देवताओं में समानता बताई, किन्तु यह अध्ययन एकांतिक ही है, इसमें दो राय नहीं हो सकती।

अन्ततः जब दयानन्द इस नियम में वेदों को समस्त सत्य विद्याओं का ('की' नहीं, दयानन्द ने पुस्तक को संस्कृत नपुंसक लिंग मान कर 'का' का प्रयोग किया, इसे सुधारकर 'की' करने की भूल आप हरगिज न करें) पुस्तक कहते हैं, तो योगी अरविन्द के शब्दों में यह न्यूनोक्ति भले ही हो, अत्युक्ति तो हरगिज नहीं है। सचमुच वेदों में सभी आध्यात्मिक (धार्मिक एवं दार्शनिक) विचारों के साथ-साथ नाना भौतिक विद्याओं का भी विवेचन हुआ है। अकेले अथर्ववेद के मन्त्रों में वर्णित विषयों पर ही एक नज़र डालें—आपको इनमें आध्यात्मिक विद्या के अतिरिक्त शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, आयुर्वेद, कीट-विज्ञान, युद्ध-विद्या, समर-कौशल, राजनीति, प्रशासन, परिवार, विभिन्न रोग और उनके उपचार, रोगों को उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं (इन्हें वेद में यातुधान कहा गया है, जो आगे चलकर संस्कृत में राक्षस का पर्याय बन गया) की जानकारी, स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध का विवेचन (काम-विज्ञान) यह सब तथा इनसे भिन्न अनेक भौतिक तथा अभौतिक विषयों का विवेचन मिलेगा। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर यदि दयानन्द ने वेदों को समस्त विद्याओं का भण्डार तथा उनका मूल स्रोत बताकर मनुष्य मात्र (आर्य को अच्छे मानव का पर्याय मानना उचित है) को इन ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने तथा सुनने-सुनाने की संस्तुति की, तो इसमें अनुचित क्या था?

**“सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में
सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।”**

नियम ४:

सत्य के महत्त्व की स्थापना

महर्षि दयानन्द का जीवन एवं आचरण सत्य पर आधारित था। मानव जीवन मूल्यों में उन्हें सत्य सर्वाधिक प्रिय था। इसीलिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना का आधार सत्य को बनाया। जब मुम्बई के राजकृष्ण महाराज नामक एक अध्यात्मविद् पुरुष ने उनसे कहा कि वे आर्यसमाज का दार्शनिक आधार अद्वैत वेदान्त को बनाएं तो महाराज ने उनके इस प्रस्ताव को प्रथम दृष्ट्या अस्वीकार कर दिया — (*Rejected at the outset*) कारण यह था कि वे आर्यों के संगठन को असत्य के आधार पर स्थापित करना नहीं चाहते थे। इसी प्रकार ब्रह्मसमाज की सहायता लेना उन्होंने इसलिए अस्वीकार कर दिया क्योंकि ब्राह्म लोग चाहते थे कि स्वामी जी वेदों की सर्वोपरि मान्यता विषयक अपने विचारों को शिथिल कर दें और ऐसा करना स्वामी जी के लिए अशक्य था।

ईश्वर और वेद के पश्चात् स्वामी जी ने आर्यसमाज का आधार सत्य को बनाया और चौथे नियम में लिखा — सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। वेदादि शास्त्रों में सत्य की महिमा सर्वत्र वर्णित है। यदि आर्ष शास्त्रों से सत्य की महत्ता का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों और सूक्तियों का संग्रह करें तो एक बड़ी पुस्तक तैयार हो जाएगी। ऐसा कौन सा शास्त्र है जो सत्य की महिमा का बखान नहीं करता। वेदों में सत्य का उल्लेख करते हुए सहस्रों मन्त्र मिलते हैं। परमात्मा ने ऋत और सत्य का सहारा लेकर सृष्टि की रचना की। अघमर्षण मन्त्र ‘ऋतं च सत्यं च’ इसका साक्षी है। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में राष्ट्र को धारण करने वाले सात तत्त्वों में सत्य को प्रथम स्थान दिया गया है — ‘सत्यं बृहदऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। (१२/१/१) ऋग्वेद की उक्ति

है— **सत्येनोत्तमिता भूमिः।** (१०/८५/१) सत्य रूपी परमेश्वर ने पृथ्वी आदि को धारण कर रखा है। उपनिषदों में सत्य की महिमा दर्शाने वाले प्रकरण निम्न हैं — **सत्यमेव जायते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः।** (मुण्डक३/१/६) आचार्य का अन्तेवासियों को दीक्षान्त उपदेश — **सत्यंवद, ... सत्यान्न प्रमदितव्यम्।** (तैत्तिरीय० शिक्षा वल्ली ११)

मनुस्मृति में सत्य के महत्त्व को दर्शाने वाले श्लोकों का बाहुल्य है। कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं — (१) **सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्** (४/१३८) राजधर्म प्रकरण में साक्षी (गवाह) के लिए सत्य बोलना आवश्यक बताया गया — सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी तथा सत्येन पूयते साक्षी (अध्याय८) अर्थात् सत्य बोलने वाला साक्षी लोकोत्तर कीर्ति पाता है, सत्य बोलकर साक्षी पवित्र हो जाता है। आदि।

सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में स्वामी जी ने अपने इस ग्रन्थ का प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना बताया तथा स्पष्ट किया कि जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। मनुक्त धर्म के दस लक्षणों में नवें स्थान पर आए सत्य का अर्थ करते हुए दयानन्द लिखते हैं — “जैसा आत्मा में, वैसा मन में, जैसा मन में, वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्तना सत्य है।”

मनु के ‘**आत्मैव ह्यात्मनो साक्षी**’ इस श्लोक का अर्थ करते हुए ऋषि ने लिखा — **सत्य भाषण जो कि तेरे आत्मा-मन-वाणी में है वह सत्य और इससे विपरीत है वह मिथ्या भाषण है।**

स्वामी दयानन्द ने न केवल लेख या वाणी द्वारा सत्य के महत्त्व का प्रतिपादन किया, अपने जीवन में सदा सत्याचरण को वरीयता देकर अन्यो के लिए उदाहरण पेश किया। जब तक वे किसी वस्तु या सिद्धान्त को सत्य समझते रहे, उसका उन्होंने दृढ़ता से पोषण और कार्यान्वयन किया। किन्तु जिस क्षण उन्हें उस वस्तु या सिद्धान्त के असत्य होने का पता चला, उसे त्यागने में क्षणमात्र का विलम्ब नहीं किया। ऋषि जीवन से तीन उदाहरण दिए जाते हैं। (१) पारिवारिक संस्कारों तथा पिता प्रदत्त उपदेशों के कारण वे मूर्तिपूजा और पार्थिव शिवलिंग को कैलाशवासी शक्तिपुञ्ज महादेव मानते रहे। एतदर्थ व्रत रखे, रात्रि को मन्दिर में जाकर पूजा तथा जागरण करने में उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ, किन्तु जिस क्षण उन्हें इस सत्य का

आभास हुआ कि जड़ प्रतिमा महादेव का स्थानापन्न नहीं है, उन्हें मूर्तिपूजा के मिथ्यावाद को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं हुआ। सत्य का इतना आग्रह अन्यत्र कहाँ मिलेगा?

(२) श्री महाराज ने अपने आत्मकथन में स्वीकार किया है कि जब उन्होंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण कर शुद्ध चैतन्य नाम धारण किया, उस समय वे शंकराचार्य के अद्वैतवाद में निष्ठा रखते थे। उनके शब्द हैं —

“वहाँ चेतन मठ में ब्रह्मानन्दादि ब्रह्मचारी और संन्यासियों से वेदान्त विषय की बहुत बातें की। और मैं ब्रह्म हूं और जीव ब्रह्म एक है, ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादिकों ने मुझको करा दिया। प्रथम वेदान्त पढ़ते समय (वेदान्त सार, वेदान्त परिभाषा आदि ग्रन्थ) ही कुछ-कुछ निश्चय हो गया था, परन्तु वहाँ ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ।”

किन्तु जब आगे चलकर स्वामी जी ने वैदिक दर्शन का गहन गम्भीर अध्ययन किया तो उन्होंने अद्वैतवाद को त्यागने और ईश्वर-जीव-प्रकृति की अनादिता के त्रैत मत को स्वीकार करने में देर नहीं की। यह सत्य के प्रति उनके दृढ़ आग्रह का सूचक है। कालान्तर में उन्होंने वेदान्तिध्वान्त निवारण लिखकर तथा सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में शांकरमत का निराकरण कर अपने सत्य मत की पुष्टि की।

(३) स्वामी दयानन्द ने अपने आरम्भिक साधना काल में हठयोग की साधना की थी। उन्होंने इस विषय के हठयोग प्रदीपिका आदि ग्रन्थ भी पढ़े थे। हठयोग में शरीरस्थ नाड़ियों तथा सहस्रार आदि चक्रों की चर्चा आती है। दयानन्द को हठयोग की इन बातों में सदा शंका रही। वे इनकी परीक्षा करना चाहते थे। इस प्रयोजन से उन्होंने नदी में बहते एक शव को निकाला तथा उसका छेदन कर ज्ञात कर लिया कि हठयोग में उल्लिखित बातें सर्वथा कपोल कल्पित हैं। अन्ततः दयानन्द ने योग के बारे में यह सम्मति बनाई — **“वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल और सांख्य शास्त्रों के अतिरिक्त (योग की) अन्य समस्त पुस्तकें मिथ्या और अशुद्ध हैं।”** (दयानन्द की आत्मकथा) सत्य के प्रति जिसकी ऐसी अपार निष्ठा हो और जो असत्य को त्यागने में स्वल्प विलम्ब नहीं करता उसके द्वारा आर्यसमाज के इस चौथे नियम की रचना स्वाभाविक ही थी।

नियम ५:

सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

१८७६ में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर डॉ० (बाद में सर) मोनियर विलियम्स ने अपने मुम्बई प्रवास में स्वामी दयानन्द से धर्म की परिभाषा पूछी। उत्तर में स्वामीजी ने कहा — जो सत्य और न्याय से युक्त है, जिसमें पक्षपात का लेशमात्रा भी नहीं है तथा जो वेदाज्ञा के अनुकूल आचरण है, उसे ही मैं धर्म कहता हूँ। प्रो० विलियम्स ने इस प्रसंग को अपने ग्रन्थ 'ब्राह्मनिज्म एण्ड हिन्दुइज्म' में उद्धृत किया है। स्वामी जी ने धर्म की परिभाषा अपने ग्रन्थों में, अन्यत्र भी की है। स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (सत्यार्थ प्रकाश का परिशिष्ट) में वे धर्म एवं अधर्म की परिभाषा देते हुए लिखते हैं — "जो पक्षपात रहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म और जो पक्षपात रहित, अन्यायाचरण, मिथ्या भाषणादि ईश्वराज्ञा भंग वेदविरुद्ध है उसे अधर्म मानता हूँ।" आर्योद्देश्यरत्नमाला में धर्म को इस प्रकार से परिभाषित किया गया है — "जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपात रहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिए यही एक मानने योग्य है, उसको धर्म कहते हैं।"

पूना में प्रवचन करते हुए अपने एक व्याख्यान में स्वामी जी ने धर्माधर्म के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा — "परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म, विधि यह धर्म, निषेध यह अधर्म, न्याय यह धर्म, अन्याय यह अधर्म, सत्य यह धर्म, असत्य यह अधर्म, निष्पक्षपात यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म।" इसी व्याख्यान में उन्होंने अहिंसा को परमधर्म कहा तथा मनु प्रोक्त दस लक्षणात्मक धर्म में अहिंसा को प्रथम स्थान देकर एकादश लक्षण वाले धर्म का निरूपण किया। अन्यत्र उन्होंने महर्षि कणाद द्वारा प्रदत्त धर्म की परिभाषा को मान्यता देते हुए कहा कि इस लोक में उन्नति तथा परलोक में मोक्ष की प्राप्ति जिससे सिद्ध हो, उसे धर्म कहा जाता है। इसी व्याख्यान में उन्होंने छान्दोग्योपनिषद् के वचन को उद्धृत किया और बताया कि यज्ञ, अध्ययन और दान— ये धर्म के तीन स्कन्ध हैं। त्रयो धर्म स्कन्धाः यज्ञाध्यनदानमिति।

दयानन्द प्रतिपादित धर्म किसी संकीर्ण विचारधारा, कर्मकाण्ड तथा मतवाद

का पर्याय नहीं है। सच पूछो तो 'धर्म' शब्द का कोई अन्य पर्याय किसी भाषा में उपलब्ध नहीं होता। यही कारण है कि भारत में प्रचलित सभी प्रमुख भाषाओं में धर्म के लिए कोई अन्य शब्द ही नहीं है। पंजाबी, सिंधी, राजस्थानी, ब्रज, हिन्दी, अवधी, खड़ी बाली, बंगला, उड़िया, असमिया, गुजराती, मराठी, नेपाली, मैथिली, तेलुगु, कन्नड़, तथा मलयालम में सर्वत्र धर्म शब्द को यथावत् स्वीकार किया गया है। मत, पन्थ, सम्प्रदाय, *Sect, Religion, Faith* आदि शब्द धर्म के अर्थों से कोसो दूर हैं। महाभारत में 'धारणात् धर्म' कहकर उन तत्त्वों की समष्टि को धर्म कहा गया है जिन्हें ग्रहण कर मनुष्य में मानवता का संचार होता है। सच तो यह है कि दयानन्द प्रतिपादित वैदिक धर्म ही मानव धर्म का पर्याय है। इसे ही सार्वजनीन, सार्वभौम तथा सार्वकालिक धर्म कहा जा सकता है।

आर्यसमाज के इस नियम के अनुसार मनुष्य को अपने कर्मों को करते समय यह विचार अवश्य करना चाहिए कि जो काम वह करने जा रहा है वह धर्म युक्त है या उसमें अधर्म का समावेश है। धर्माधर्म की कसौटी उन्होंने सत्यासत्य को बताया। जो सत्य है वही धर्म है, इसके प्रतिकूल असत्याचरण अधर्माचरण है, अतः त्याज्य है। खेद का प्रसंग है कि संकीर्णमना राजनीतिज्ञों और दुराग्रही मतवादियों ने धर्म-निरपेक्षता का एक निराला राग अलापा और धर्म के विरुद्ध अनर्थकारी अभियान छेड़ दिया। संस्कृत वाङ्मय में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की गई है — **वस्तु स्वभावो धर्मः** किसी भी वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ का स्वभाव ही उसका धर्म है। इस वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण परिभाषा को मान्यता देना जरूरी है। फलतः अग्नि का धर्म जलाना, जल का धर्म द्रवणशील होना, वायु का धर्म प्रवाहित होना माना जाएगा। तथ्य यह है कि लोगों ने मत-मतान्तरों, विभिन्न पूजा-उपासना पद्धतियों, मनुष्य को विभाजित करने वाले कर्मकाण्डों तथा वदतोव्याघात युक्त दर्शनों को धर्म मान लिया है।

स्वामी दयानन्द ने वैदिक सिद्धान्तों पर आधारित व्यष्टि और समष्टि धर्म की व्याख्या की है। सर्वप्रथम उन्होंने मनुष्य को शरीर धर्म का पालन करने का परामर्श किया। उन्होंने 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन' के सिद्धान्त का निरूपण किया और इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अन्तस्थ आत्मा को पवित्र तथा सबल बनाने की बात कही। यह विडम्बना ही थी कि मध्यकाल के धर्माचार्यों ने शरीर की उपेक्षा करने पर बल दिया तथा इसे अपवित्र, अभिशप्त तथा सब अवगुणों की खान बताया। विशेषतया वैष्णव भक्तों ने तन को मलीन, पापों का पुञ्ज तथा हेय प्रतिपादित किया। वे यह भूल गए कि शरीर के द्वारा ही धर्म की साधना सम्भव है। कालिदास के शब्दों में —

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। (कुमार सम्भव)

धर्म की साधना शरीर के बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार स्वामी जी ने पारिवारिक धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म तथा सार्वभौम धर्म की विभिन्न चरणों

में व्याख्या की। पारिवारिक धर्म के लिए अथर्ववेद के 'अनुव्रतः पितुः पित्रो मात्रा भवतु संमनाः' तथा 'मा भ्राता भ्रातारं द्विक्षन्' आदि मंत्र द्रष्टव्य हैं जिनमें पारिवारिक के सदस्यों में सौमनस्य, सामञ्जस्य, अविरुद्धता, ऋजुता आदि गुणों को श्रेयस्कर माना गया है। सामाजिक समरसता तथा समष्टि धर्म का उपदेश ऋग्वेद के अन्तिम संज्ञान सूक्त में मिलता है जिसमें साथ-साथ चलने, साथ-साथ बोलने तथा अपने मनो को एक जैसा बनाने का उपदेश दिया गया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समूह में रहता है अतः सभाएं एवं समितियाँ बनाने में उसकी स्वाभाविक रुचि पाई जाती है। वेद के अनुसार मनुष्यों का मन्त्र (विचार), समिति तथा सभा आदि समान हों। सभाएं और समितियों में विस्तृत विचार विमर्श के पश्चात् वे जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं वही उनका मन्त्र है।

राष्ट्रीय धर्म का उपदेश देने वाला यजुर्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है जिसे वैदिक राष्ट्रगीत का दर्जा दिया गया है। राष्ट्रधर्म का पालन जहां होगा वही ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले ब्राह्मण (ब्रह्म तत्त्व के ज्ञाता तथा ब्रह्म संज्ञक वेद के उपदेष्टा) होंगे, शूरवीर, धनुर्धारी, शत्रुओं को त्रास देने वाले क्षत्रिय होंगे। प्रचुर दूध देने वाली गौवं, भार सहन करने में समर्थ बैल, तीव्रगामी अश्व, बलवान और सभ्य नागरिक, सौभाग्य-शालिनी सुरुपा नारियां तथा रोगनाशक औषधियां तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली प्रचूर वर्षा होगी। ऐसा योगक्षेम प्रत्येक राष्ट्र का आदर्श होगा।

धर्म के सम्बन्ध में मनुस्मृति में अनेक सुन्दर उक्तियां मिलती हैं। स्वामी दयानन्द ने मानव धर्म शास्त्र में विवेचित धर्म को सर्वात्मना स्वीकार किया है। उनके अनुसार निखिल धर्म का मूल वेद है — वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। इस धर्म का ज्ञान श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा अपनी आत्मा की साक्षी से होता है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

धर्म विवेचन में ऋषि दयानन्द ने जहां शास्त्र प्रमाण को प्रधानता दी है वहां उसके लिए युक्ति, तर्क तथा सृष्टिक्रम से अविरुद्ध होने की कसौटी भी बताई। इस परिपेक्ष्य में देखने से दयानन्द के चिन्तन की वैज्ञानिकता स्पष्ट रूप से उजागर होती है। वे धर्म को मात्र विश्वास तथा आस्था का पुञ्ज नहीं मानते, अपितु उसको विवेक, बुद्धि तथा तर्क की कसौटी पर कसने के लिए कहते हैं। मनु के शब्दों में — यस्तर्कणानुसंधत्ते स धर्मवेदनेतरः।

जो तर्क के द्वारा खोजा जाता है वही धर्म है। वस्तुतः मनुष्य के प्रत्येक आचार, कर्म तथा उसकी समस्त जीवनचर्या के लिए धर्म-अधर्म और सत्यासत्य के विवेक की अवधारणा का प्रतिपादन कर ऋषि दयानन्द ने एक शाश्वत सत्य का निरूपण किया है।

“संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।”

नियम ६:

समष्टि हित साधन को वरीयता

आर्यसमाज की स्थापना में ऋषि दयानन्द का उद्देश्य समष्टि हित को साधना था। उन्नीसवीं शताब्दी के भारत का नागरिक केवल अपने हित की बात ही सोचता था। अधिक से अधिक उसका दायित्व येन-केन-प्रकारेण परिवार पालन तक सिमटा रहता है। परिवार से आगे, समाज, राष्ट्र तथा निखिल मानवता का हित-चिन्तन उसके सोचने की परिधि में नहीं आता था। यद्यपि आर्यसमाज के पहले राजा राममोहन राय ने बंगाल में एक अद्वितीय ब्रह्म की उपासना के लिए ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी तथा उनके परवर्ती ब्राह्म नेता केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से महाराष्ट्र के महादेव गोविन्द राणडे तथा रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर आदि ने बम्बई में प्रार्थनासमाज की स्थापना कर दी थी तथा स्वामी दयानन्द को उनके भक्तों और शिष्यों ने इस संस्थानों के अनुकरण पर कोई संगठन खड़ा करने का अनुरोध किया था किन्तु दयानन्द स्वस्थापित संस्था को अधिक व्यापक धरातल पर स्थापित करना चाहते थे।

यों तो स्वामी दयानन्द के लिए अपनी मातृभूमि का प्रेम कुछ कम नहीं था। उन्होंने ब्राह्म लोगों में स्वराष्ट्र के प्रति प्रेम की न्यूनता को देखकर उनकी आलोचना में लिखा —“ये लोग अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके बदले पेटमर निंदा करते हैं।” व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं (केशव के सन्दर्भ में) ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते।” अपने ग्रन्थ तथा व्याख्यानों में उन्होंने सर्वदा देश हित के उपाय सुझाये तथा देशोत्थान के विभिन्न कार्यक्रम प्रस्तुत किए। तथापि दयानन्द आर्यसमाज के आन्दोलन को

किसी जाति, वर्ग, वर्ण, प्रान्त तथा देश की सीमा तक सीमित करना नहीं चाहते थे। उनका चिन्तन सदा समष्टि के इर्द-गिर्द घूमता था। वे मानव जाति को एक ईकाई मानते थे जो विभिन्न कारणों और परिस्थितियों के वशवर्ती होकर अनैक्य तथा विभिन्नता की क़ाराओं में आबद्ध हो गई है। दयानन्द की इसी सर्वग्रासी दृष्टि ने आर्यसमाज की स्थापना में उनके उद्देश्य को इस छठे नियम में स्थापित किया और उन्होंने संसार के उपकार को आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य ठहराया।

स्वामी दयानन्द की दृष्टि में “मनुष्य उसी को कहना चाहिए कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यो के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता हो।” इसे ही उन्होंने सर्वतंत्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य धर्म कहा। यही सनातन नित्य धर्म है। इस व्यापक दृष्टि की अभिव्यक्ति आर्यसमाज के छठे नियम में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। ध्यातव्य है कि स्वामी जी की दृष्टि में व्यक्ति हित, राष्ट्रहित तथा समग्र मानवता का हित परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। सबकी सिद्धि साथ-साथ हो सकती है। वैयक्तिक उन्नति राष्ट्र के कल्याण का साधन बनती है और प्रत्येक राष्ट्र की बहबूदी, खुशहाली तथा सार्वत्रिक उन्नति समग्र संसार में शान्ति, समृद्धि तथा सुखों के प्रसार का कारण बनती है।

स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने का स्वप्न देखा था। शीघ्र ही स्वदेश के साथ-साथ आर्यसमाज ने अन्य देशों में भी अपना कार्यक्रम प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में आर्यसमाज के उपदेशक और प्रचारक उन देशों में गए जहां प्रवासी भारतवासी रहते थे। सुरिनाम, मॉरिशस, अफ्रीका, फीजी, ट्रिनीडाड, जमैका, गयाना आदि देशों में उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लाखों भारतीयों को श्रमिक तथा कृषिकर्मी बनाकर ले जाया गया था। अधिकांश में ये बिहार तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों से जाने वाले गरीब लोग थे जो अपनी धरती पर रोजी-रोटी के साधनों के अभाव में शर्तबन्द कुली के रूप में विदेशों में काम की तलाश में गए थे। पराये देशों में बस जाने पर भी इन भारतीयों ने स्वधर्म, स्वभाषा तथा स्वदेश के आचार-व्यवहार को नहीं भुलाया। कुलीगीरी से उदरपूर्ति करने वाले तथा अधिकांश में गुलामों का सा जीवन व्यतीत करने वाले इन स्वाभिमानी भारतवासियों ने उन देशों में आर्यसमाज के कार्यक्रमों को जारी रखा। फलस्वरूप आर्यसमाज के सार्वदेशिक स्वरूप को प्रामाणिकता मिली तथा अनुभव किया जाने लगा कि वस्तुतः स्वामी दयानन्द अपनी इस संस्था के द्वारा समस्त संसार का हित

साधन करना चाहते थे। मॉरिशस तथा फीजी जैसे देशों में धार्मिक तथा सामाजिक परिवर्तन लाने का श्रेय आर्यसमाज को ही है। मॉरिशस के आर्यसमाज संगठन ने वहां के स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रमुख योगदान दिया। प्रो० वासुदेव विष्णुदयाल तथा उनके अनुज श्री सुखदेव विष्णुदयाल का सार्वजनिक जीवन आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित रहा। आज भी वहां के राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन पर आर्यसमाज के प्रगतिशील सिद्धान्तों का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

ऐसा नहीं कि विदेशों में आर्यसमाज का प्रचार प्रवासी भारतवासियों तक सीमित रहा। विगत कुछ वर्षों से यूरोप तथा अमेरिका महाद्वीप के देशों में आर्यसमाज ने अपना सन्देश वहां के निवासियों में प्रसारित किया है। इंग्लैण्ड, हालैण्ड, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में आर्यसमाज ने अपनी नींव जमाई है। समीपवर्ती नेपाल में वैदिक धर्म के प्रचारार्थ पं० शुक्रराज शास्त्री के परिवार ने जो त्याग और कुर्बानी की, उसे भुलाना कठिन है।

छठे नियम में आर्यसमाज द्वारा की जाने वाली उन्नति का त्रिविध वर्गीकरण किया गया है। सर्वप्रथम शारीरिक उन्नति करना हमारा ध्येय एवं लक्ष्य होना चाहिए। शारीरिक उन्नति का मूलाधार ब्रह्मचर्य का पालन है। यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि मध्यकालीन हिन्दू जीवन में ब्रह्मचर्य के आदर्श का सर्वथा लोप हो चुका था। शारीरिक शक्ति से हीन भारतवासी सर्वथा निर्बल, अशक्त, कंकालावशेष शरीर वाले रह गए थे। बाल विवाह जैसी प्रथा ने इस देश के युवकों को अधोगति के गर्त में डाल दिया था। स्वामी जी ने ब्रह्मचर्य पालन, व्यायाम, प्राणायाम, सात्विक बलवर्द्धक भोजन तथा सदाचार मूलक जीवन का आदर्श भारतवासियों के समक्ष रखा।

मनुष्य अपनी उन्नति के लिए विविध क्षितिजों का चयन करता है। शारीरिक बल सम्पन्न व्यक्ति आगे चलकर मानसिक और बौद्धिक सम्पदा का अर्जन करता है, किन्तु सर्वोपरि महत्त्व तो आत्मिक उन्नति का है। यह आत्मिक बल ही है जो मनुष्य में सच्चा पौरुष, स्वाभिमान, पुरुषार्थ, पराक्रम तथा लोकोपकार की भावना उत्पन्न करता है। महापुरुषों ने अपने जीवन में जो उपलब्धियां प्राप्त कीं तथा देश और समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सूत्रपात किया, वह सब उनके आत्मिक बल के कारण ही सम्भव हुआ। स्वामी दयानन्द का ही उदाहरण देखें। उनमें यदि आत्मिक बल नहीं होता तो वे शास्त्रार्थ समर में प्रतिद्वन्द्वियों का मुकाबला करने में असमर्थ

रहते। धन, सम्पत्ति, वैभव तथा प्रतिष्ठा के प्रलोभनों को ठोकर मारकर अपने सिद्धान्तों पर अविचलित रहना क्या आत्मिक बल के अभाव में सम्भव होता?

आर्यसमाज के प्रवर्तक की एक बड़ी देन है — सामाजिक उन्नति के लिए देशवासियों— विशेषतः हिन्दुओं में जागरूकता उत्पन्न करना। यों तो भारतवासी हिन्दुओं में विद्या, बुद्धि, ज्ञान, प्रतिभा, सम्पत्ति-वैभव सब कुछ था, यदि नहीं थी, तो सामाजिक एकता तथा सामूहिक चेतना। आर्यसमाज की स्थापना के पीछे स्वामी जी का मुख्य प्रयोजन वेदमतानुयायी हिन्दुओं को संगठित होकर अपनी कठिनाइयों का समाधान ढूँढ़ने के लिए प्रेरित करना था। यही कारण था कि रीढ़ विहीन, स्वयं को सर्वथा हीन, पराधीन तथा पादाक्रान्त समझने वाला हिन्दू समाज आर्यसमाज के उपदेशों को अपना कर शक्ति और स्वाभिमान का पुञ्ज बना। यह तो सत्य है कि आर्यसमाज ने भारत की समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने में सदा रुचि ली है। तात्कालिक सामयिक परिस्थितियों ने उसे देश की विभिन्न राजनैतिक तथा सार्वजनिक गतिविधियों में भाग लेने के लिए विवश किया। तथापि आर्यसमाज को एक क्षण के लिए यह नहीं भूलना चाहिए कि उसकी स्थापना का प्रयोजन न तो केवल भारत का कल्याण सिद्ध करना है और न हिन्दू जाति का उत्थान। उसके कार्यक्षेत्र में सम्पूर्ण मानवता का हित साधन आ जाता है और मनुष्य ही क्यों? क्या जीवधारी पशु-पक्षी, कीट-पतंग की भलाई आर्यसमाज के कार्यक्रम में नहीं आती? निश्चय ही प्राणिमात्र का हित साधन सच्चे आर्य का कर्तव्य है।

“सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए।”

नियम ७:

अन्यों के प्रति व्यवहार

आर्यसमाज के नियमों की रचना करते समय इनके प्रणेता ऋषि दयानन्द ने शब्दों के चयन, वाक्य रचना, भावों के गुंफन तथा इन नियमों को मानव जाति की व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया था। तभी तो इन नियमों को देश, काल, वर्ण, लिंग आदि की सीमाओं से उठकर मनुष्य मात्र के लिए स्वीकार करने तथा आचरण करने योग्य माना जाता है। अन्ततः मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अंग्रेजी उपन्यास के नायक रॉबिन्सन क्रूसो की भांति किसी जनहीन एकाकी द्वीप पर नहीं बसता और यदि क्रूसो भी दुर्दैववश किसी ऐसी जगह जा पहुंचा तो वहां भी उसे एक साथी मिल ही गया और इस अज्ञातनामा व्यक्ति को उसने “फ्राइडे” का नाम दे दिया क्योंकि इससे उसकी भेंट शुक्रवार को हुई थी। परन्तु हम जिस समाज में रहते हैं वहां तो कदम-कदम पर “फ्राइडे” जैसे साथी, हितैषी तथा शुभचिन्तक मिलते हैं। तब यह सोचना पड़ता है कि अन्यों के प्रति हमारा व्यवहार कैसा हो? उसी का उत्तर आर्यसमाज के सातवें नियम में मिलता है—

हमारा व्यवहार प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार एवं यथायोग्य होना चाहिए।

पारस्परिक व्यवहार निरूपण के लिए ऋषि दयानन्द ने उपर्युक्त शब्दों का चयन अत्यन्त सावधानी पूर्वक किया है। मानव स्रष्टा ने ही मनुष्य में दया, करुणा, वात्सल्य, परस्पर मैत्री तथा प्रीति जैसे कोमल भावों को प्रचुरता से संजोया है। अतः हमारे पारस्परिक व्यवहार में एक दूसरे के प्रति प्रेम और सद्भाव सदा रहना चाहिए। यह तो सम्भव है कि हमारे विचारों में अन्तर हो, हमारे स्वभाव, कार्य प्रवृत्तियां, मनः स्थितियां तथा चिन्तन के धरातल भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु यह अन्तर हमें एक दूसरे के प्रति प्रेम और सद्भावना रखने से नहीं रोकता। हम ऋषि दयानन्द को

ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यह सर्वविदित है कि स्वामी दयानन्द पुराणपन्थी विचारों और प्रवृत्तियों के कटु आलोचक थे। उन्होंने हमारे धर्म में प्रविष्ट पाखण्ड, अंधविश्वास, अंध धारणाओं का तीव्रतम खण्डन किया। तथापि वे पुराण प्रतिपादित मत के आचार्यों एवं पण्डितों से सदा प्रीतिपूर्ण व्यवहार करते रहे। पुणे (पूना) उस समय के पुराण पंथी ब्राह्मणों का दुर्भेद्य गढ़ था। जब महादेव गोविन्द रानडे के आग्रह को मानकर स्वामी जी ने वहां अनेक प्रवचन किये तो उन्होंने प्रसंगोपात्त पुराणों की मान्ताओं का खण्डन भी किया। किन्तु इस खण्डन में कटुता इसलिए नहीं आई क्योंकि ऋषि ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों के लिए कदापि कुवाक्य नहीं कहा। वे इन परम्परा प्रेमी पण्डितों को मेरे बड़े भाई शास्त्री लोग जैसे आदरास्पद सम्बोधन से सम्बोधित करते थे।

उनका यही व्यवहार अन्य मतों के आचार्यों और विद्वानों से भी रहा। बरेली का लाट पादरी डॉ० टी०जे० (टामस जेफरसन) स्काट उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार से इतना प्रभावित हुआ कि वह महाराज के व्याख्यानों को सुनने नियमित आने लगा और स्वयं को उसने स्वामी जी की भक्त मंडली में सम्मिलित कर लिया। जब एक दिन रविवारीय सभा में पादरी नहीं आये तो यह जानकर कि आज वे चर्च में ईसाई उपासना का संचालन कर रहे होंगे, स्वामी जी ने खुद नगर के चर्च में अन्य भक्तों के साथ पहुंच गए और वहां ईसाई मत की धर्मवेदी से परमात्मा के निराकारत्व एवं एकत्व का प्रतिपादन किया। यह कौन नहीं जानता कि तत्कालीन मुस्लिम समुदाय के श्रेष्ठ लोगों से स्वामी जी की अनन्य प्रीति थी। सर सैयद अहमद खां उनके चारित्रिक गुणों से अभिभूत थे। दोनों में परस्पर अनन्य प्रेम था। लाहौर में तो आर्यसमाज की स्थापना तथा दस नियमों का निर्माण डॉ० रहीम खां की कोठी पर हुआ था। मौलाना मोहम्मद कासिम से स्वामी जी का जो विस्तृत पत्र-व्यवहार हुआ है उसमें ऋषि ने मौलाना को अत्यन्त आदर एवं सम्मान से सम्बोधित किया है।

अपने आचार्य के इसी गुण को अपनाकर कालान्तर में आर्यसमाज के नेताओं और अनुयायियों ने समग्र मानवजाति को प्रेम के सूत्र में बांधने का प्रयास किया। स्वामी श्रद्धानन्द जब दिल्ली की जामामस्जिद के मिम्बर पर विराज कर बृहत् मुस्लिम समुदाय को प्रबोधित करते हैं तो अपने व्याख्यान का आरम्भ उसी मन्त्र (त्वं हिनः पिता वसो) से करते हैं जिसमें परमात्मा को निखिल मानव ही नहीं, प्राणीसमूह की माता और पिता कहा गया है। अपने जीवन में स्वामी जी को अनेक अंग्रेज

अफसरों, धर्म याजकों (पादरियों) तथा विभिन्न यूरोपियनों से मिलने का अवसर मिला। उनके प्रति ऋषि का आचरण और व्यवहार शिष्टाचार के सर्वोच्च मानदण्डों से युक्त, प्रेम और भाईचारे का रहा। विचार भिन्नता को उन्होंने मन-भिन्नता का कारण नहीं बनने दिया। यही कारण है कि इंग्लैण्ड में अध्ययनरत स्व शिष्य पं० श्याम जी कृष्ण वर्मा को संस्कृत में पत्र लिखते समय वे ऑक्सफोर्ड के प्रोफेसर-द्वय मोनियर विलियम्स तथा फ्रैंड्रिक मैक्समूलर को 'नमस्ते' लिखना नहीं भूले। वैसे भी संन्यासी के लिए सम्पूर्ण वसुधा ही कुटुम्ब होता है और दयानन्द जैसे परिव्राजक के हृदय में निखिल मानव जाति के लिए स्नेह का स्रोत बहता था।

जहां हमारा पारस्परिक व्यवहार (वर्तन) प्रीतिपूर्ण हो, वह धर्मयुक्त भी होना चाहिए। दयानन्द ने धर्म को व्यापक अर्थवर्त्ता प्रदान की है। उनकी दृष्टि में धर्म, सत्य एवं न्याय को अपनाने तथा पक्षपात त्यागने का नाम है। वे वेदाज्ञा को भी धर्म का नियामक मानते हैं। अतः स्वामी दयानन्द को जहां-जहां सत्य और न्याय दिखाई देता है, वेदाज्ञा पालन दिखाई देता है, लोगों का पक्षपात रहित आचरण दृष्टिगोचर होता है, वहां उनके व्यवहार में अत्यन्त मृदुता आ जाती है। पाठक कर्णवास में पं० हीरावल्लभ के शास्त्रार्थ का स्मरण करें। यह व्याख्यान निरन्तर छः दिन तक चलता रहा। (विस्तार के लिए मेरी पुस्तक कर्णवास में ऋषि दयानन्द देखें)। अन्ततः जब पं० हीरावल्लभ ने मूर्तिपूजा की अवैदिकता को स्वीकार कर लिया और महर्षि के पक्ष के सत्य होने की घोषणा कर दी तो स्वामी जी का हृदय उनके प्रति सम्मान और प्रेम से भर गया। उन्होंने हजारों की उपस्थिति में पं० हीरावल्लभ को धर्म संस्थापकाचार्य पदवी प्रदान की। कन्नौज के पं० हरिशंकर को भी वेद का सत्य पक्ष स्वीकार करने पर उन्होंने सम्मानित किया और बधाई दी।

महर्षि को अन्य मतावलम्बियों का जो स्नेह और आदर मिला उसका कारण अन्यो के प्रति उनका प्रीति एवं धर्मयुक्त व्यवहार ही था। ब्राह्म नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन, ट्रिब्यून के संस्थापक जन्मना सिख किन्तु विचारों से ब्रह्मसमाजी सरदार दयालसिंह मजीठिया, सनातन धर्म के स्तम्भ तुल्य स्वामी विशुद्धानन्द, काशी के राजा ईश्वरीनारायण सिंह, संस्कृत की विदुषी रमाबाई और हरियाणा ग्राम (होशियारपुर) की माई भगवती, सभी स्वामी जी के प्रीतिसूत्रमें बंधे हुए थे। धर्म में कर्त्तव्य पालन की भावना निहित है। गीता में कृष्ण ने धर्म को स्वकर्त्तव्य के रूप में पहचाना है। इसीलिए वे पदे-पदे "स्वधर्म निधनं श्रेयः" की बात

करते हैं। स्वामी दयानन्द को भी वे ही लोग पसन्द हैं जो अपने कर्तव्य पालन में कभी त्रुटि नहीं रखते। धर्माचरण में रत ब्राह्मण उन्हें प्रिय हैं, कर्तव्यनिष्ठ, स्वदेश रक्षा में लगे क्षत्रिय (महाराणा सज्जनसिंह और राव बहादुरसिंह जैसे) उनके प्रीतिपात्र हैं तथा फर्रुखाबाद के धर्म प्रेमी वैश्य उनके स्नेह भाजन हैं। धर्मयुक्त व्यवहार में शिष्टाचार के सभी नियमों का समावेश हो जाता है। अथर्ववेद के सौमनस्य सूत्र में इसी प्रेमभाव का उपदेश है। 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' की वैदिक सूक्ति प्राणिमात्र को मित्र समझने का आदेश देती है।

इस नियम में प्रयुक्त 'यथायोग्य' पद का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त और सार्थक है। जो जैसे व्यवहार की अपेक्षा रखता है, उसके साथ हमारा व्यवहार वैसा ही होना चाहिए। साधु के ^{साथ} हम साधुवत् आचरण करें तो शठ के प्रति शठता करना भी अनुचित नहीं है। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की उक्ति मनुष्य की प्रवृत्ति भिन्नता को लक्ष्य में रखकर बनाई गई है। निश्चय ही माता, पिता, पुत्र, पत्नी, परिजन, पड़ौसी, अन्य देशस्थ आदि विभिन्न लोगों के साथ हमारा व्यवहार औचित्ययुक्त, अन्य शब्दों में 'यथायोग्य' ही होगा। सबको एक डण्डे से हांका नहीं जा सकता। तथापि स्वामी दयानन्द ने निज आचरण से यह सिद्ध कर दिया कि संन्यासी सर्वभूत हित की दृष्टि रखते हैं। उनके विशाल मन में किसी के प्रति शत्रुभावना तथा विद्वेष नहीं होता। यही कारण था कि वे तलवार लेकर मारने आये राव कर्णसिंह को भी क्षमा कर सके, गंगा तटवर्ती प्रदेश में घूमते समय गंगापूजक पण्डों के उद्दण्ड लड़कों के प्रस्तर प्रहार को सहन किया और निखिल मानवता को अपने स्नेहयुक्त आचरण से कृतार्थ किया।

“अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।”

नियम-८:

अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि

वैदिक चिन्तन और आर्य जीवन पद्धति में ज्ञान को सर्वोपरि महत्त्व मिला है। मनुष्य की तार्किक परिभाषा प्रस्तुत करते हुए पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों ने कहा था *Man is a rational animal*. अन्ततः मनुष्य भी शरीरधारी, आहार, निद्रा, भय और सन्तानोत्पादन करने वाला एक जीवधारी ही है, किन्तु उसकी विशेषता उसकी विचारशीलता, तार्किकता तथा उसका विवेक सम्पन्न होना है। विचार, चिन्तन और तर्क को प्रोत्साहन मिलता है ज्ञान से और ज्ञान का उपार्जन करने के लिए विद्याभ्यास की आवश्यकता रहती है। विद्या उपार्जित शक्ति है, वह भोजन, पान आदि की भांति मनुष्य की सहजात वृत्ति नहीं है। यदि विद्या प्राप्ति का प्रयास न किया जाए तो मनुष्य आजन्म मूर्ख और बालक सदृश बुद्धिहीन बना रहेगा।

वैदिक ग्रन्थों में विद्या की महिमा सर्वत्र वर्णित है। ‘सा विद्या या विमुक्तये’ की उक्ति प्रसिद्ध है। सामान्य लौकिक ज्ञान की अपेक्षा उस विद्या या ज्ञान का महत्त्व है जो मनुष्य को सांसारिक बंधनों से मुक्त कर मोक्षपथगामी बनाता है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में जहां विद्या और अविद्या का निरूपण किया गया है वहां विद्या को ज्ञान का ही वाचक कहा गया है। बेशक वहां अविद्या का प्रयोग ‘जो विद्या से भिन्न है, अर्थात् ‘कर्म’ इस अर्थ में हुआ है। अन्ततः ज्ञान और कर्म का समन्वय ही मनुष्य को अमृतत्व की प्राप्ति कराता है।

मुण्डकोपनिषद् में विद्या को दो प्रकार का बताया गया है — परा और अपरा। अपरा के अन्तर्गत तृण से लेकर मनुष्य पर्यन्त तथा चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान माना गया है। इस अपरा विद्या का स्रोत ऋग्वेदादि चारों वेदों के अलावा अन्य वेदानुमोदित शास्त्रों को कहा गया है। किन्तु परा विद्या अध्यात्म ज्ञान का पर्याय है जिसकी सिद्धि से मनुष्य अक्षर-परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। अन्य शास्त्रों में कहीं चौदह तो कहीं चौंसठ विद्याओं की चर्चा आई है। लौकिक और

पारलौकिक ज्ञान प्राप्त करने में इन सबका महत्त्व है।

ऋषि दयानन्द ने आर्योद्देश्यरत्नमाला में विद्या की परिभाषा इस प्रकार दी है – जिससे ईश्वर से लेके पृथ्वी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर धन से यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम विद्या है। अविद्या के बारे में ऋषि का मत है कि जो विद्या के विपरीत है, भ्रम, अंधकार और अज्ञान रूप है, उसको अविद्या कहते हैं। स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में महाराज ने विद्या की परिभाषा तो नहीं दी किन्तु उसके साधन 'शिक्षा' के आरे में लिखा—जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं। स्वामी जी विद्वान् (विद्यावान्) के सदा प्रशंसक रहे थे और अविद्वानों के प्रति वितृष्णा प्रकट करते रहे। यद्यपि उनके आध्यात्मिक और धार्मिक सिद्धान्त निर्गुण पंथी सन्तों से पर्याप्त मेल रखते हैं, किन्तु उन्होंने इन सन्तों की यह कह कर आलोचना की कि इन साधुमना व्यक्तियों ने विद्या का उपार्जन नहीं किया और न शास्त्रों का अभ्यास किया। यह दूसरी बात है कि कथित निम्नजातियों में जन्म लेने वाले कबीर (जुलाहा), दादू (धुनिया), रैदास (चमार), सेन (नाई), रज्जब (मुसलमान) आदि को उस मध्यकाल में संस्कृत और शास्त्र पढ़ने का अधिकार ही कहा था। उनका ज्ञान तो अनुभूतिजन्य ही था और उनकी अभिव्यक्ति भी स्वतः स्फूर्त थी।

आर्यसमाज के प्रवर्तक की विद्या के प्रति अदम्य लालसा थी। गृहत्याग के तुरन्त पश्चात् वे विद्या प्राप्त करने के सभी अवसरों का लाभ उठाते रहे। कभी चाणोद-करनाली जैसे नर्मदा के तटवर्ती तीर्थों तथा व्यासाश्रम में जाकर नव्य वेदान्त का अभ्यास करते हैं तो कभी योग निष्णात संन्यासियों—ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्द गिरि के सान्निध्य में रहकर योग के रहस्यों को सीखते हैं। उनके अल्पज्ञात दो गुरुओं का उल्लेख देवेन्द्र बाबू ने स्वरचित दयानन्द चरित में किया है। ये हैं कृष्ण शास्त्री तथा रामनिरंजन शास्त्री। अन्ततः दयानन्द की विद्या की पिपासा तो वैयाकरण शिरोमणि विरजानन्द के चरणों में आने से ही शान्त हुई। यहां उन्होंने अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य जैसे व्याकरण के आकर ग्रन्थों का अध्ययन तो किया ही, दण्डी जी से आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों के विवेक की वह कुञ्जी प्राप्त की जिसने उनके समग्र धर्मचिन्तन की दिशा ही बदल दी। विद्यालाभ के लिए दयानन्द ने क्या कुछ किया और परिणामस्वरूप उनका शास्त्र ज्ञान कितना विशद तथा गहन गम्भीर था, इसका स्वल्प पता उनकी इस घोषणा से होता है — “मैं अपने निश्चय

और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेके पूर्व मीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।” जो व्यक्ति तीन हजार ग्रन्थों को पढ़कर तथा उनकी परीक्षा कर कोटि में मानता है, उसका स्वाध्याय कितना विशाल होगा, यह अनुमान प्रमाण किया जा सकता है।

स्वामी दयानन्द ने विद्या के प्रसार को आर्यसमाज का मुख्य लक्ष्य ठहराया था। विद्या के प्रचार के लिए उनके निजी प्रयास भी कुछ कम नहीं थे। सर्वप्रथम उन्होंने आर्य विद्या पद्धति से संस्कृत शास्त्रों की शिक्षा के लिए फर्रुखाबाद, काशी, कासगंज, छलेसर तथा मिर्जापुर आदि स्थानों में पाठशालाओं की स्थापना की। शास्त्रीय विद्याओं से भिन्न लौकिक शिक्षा का प्रचार आर्यसमाज का आरम्भ से ही लक्ष्य रहा है। भारतीय शिक्षा का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि राजकीय विद्यालयों के पश्चात् आर्यसमाज ही ऐसा संगठन था जिसने छोटे-बड़े शिक्षण संस्थानों की स्थापना की। स्वामी दयानन्द के जीवन काल में ही मेरठ तथा लाहौर में कन्या पाठशालाओं की स्थापना हो गई थी क्योंकि तब तक नारी-शिक्षा नगण्य ही थी। स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् उनकी स्मृति में जिस डी०ए०वी० कालेज की स्थापना का निश्चय किया गया, वह भारत की शिक्षा के इतिहास में एक क्रान्तिकारी प्रयोग था। आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में कराया जाने वाला विद्याभ्यास छात्रों में स्वाभिमान, राष्ट्रीय अस्मिता, स्वदेश गौरव, स्वभाषा प्रेम तथा स्वदेशी अपनाने का भाव पैदा करता था। यही कारण है कि पंजाब तथा अन्य प्रान्तों में स्थापित दयानन्द महाविद्यालयों ने शिक्षा जगत् में गौरवशाली मानदण्ड स्थापित किए। यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आर्यसमाज की शिक्षा योजना अध्यात्म और भौतिकता, विज्ञान और धर्म, लौकिक और पारलौकिक के समन्वय पर जोर देती थी।

कालान्तर में आर्यसमाज ने गुरुकुलों की स्थापना कर शिक्षा क्षेत्र में एक नया प्रयोग किया। स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना तथा उसका सफल संचालन कर यह सिद्ध कर दिया कि वसिष्ठ और विश्वामित्र, सान्दीपनि (कृष्ण के विद्यागुरु) तथा चाणक्य के पुरातन गुरुकुलों के आदर्श को पुनः क्रियान्वित किया जा सकता है तथा नालन्दा और तक्षशिला की कहानियों को दुहराया जा सकता है। कांगड़ी के अनुकरण पर देश के विभिन्न स्थानों पर सैंकड़ों गुरुकुलों की स्थापना इस बात का प्रमाण है कि एक बार तो भारत में नैतिक मूल्यों को प्रधानता देने वाली

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया था। यह दुःखद प्रसंग है कि देश के आजाद होने के पश्चात् जहां गुरुकुल प्रणाली का विकास एवं अभिवृद्धि अपेक्षित थी, वहां उसका हास होता गया। तथापि अन्य संस्थाओं और संगठनों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में किए गए पुरुषार्थ की तुलना में आर्यसमाज का प्रयास ऐतिहासिक ही माना जाएगा।

अविद्या के नाश और विद्या की वृद्धि को एक अन्य दृष्टि बिन्दु से भी देखा जाना चाहिए। अन्य मत-मतान्तरों में आस्था, विश्वास तथा गुरु के प्रति प्रणत-भावना को अधिक महत्त्व मिला है। विशेष रूप से सामी मजहबों की धारणा है कि आसमानी किताब को मानने तथा सृष्टि के रचयिता के दूत में अविचल विश्वास प्रकट करने से ही मनुष्य का बेड़ा पार हो सकता है। भारतीय दर्शन इससे सर्वथा विपरीत बात कहता है। हमारे ऋषि-मुनि विद्या के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति बताते हैं - विद्ययाऽमृत मश्नुते। इसी प्रकार ज्ञान (विद्या) के बिना मुक्ति को सर्वथा दुर्लभ कहा गया है। कृष्ण ने गीता में ज्ञान से भिन्न अन्य किसी वस्तु को पवित्र नहीं माना न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्वते। स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायियों को जो शास्त्रार्थों में विजय मिलती रही उसका प्रमुख कारण उनका प्रगाढ़ विद्याध्ययन तथा मत-मतान्तरों के मान्य ग्रन्थों की अद्भुत छानबीन थी। यही कारण है कि आर्यसमाज में पं० रुद्रदत्त शर्मा, पं० तुलसीराम स्वामी, पं० बुद्धदेव मीरपुरी तथा पं० मनसाराम सदृश पुराण तत्त्वमर्मज्ञ, स्वामी दर्शनानन्द और स्वामी कर्मानन्द जैसे जैन शास्त्रों के पण्डित, पं० शिवशर्मा, पं० देवप्रकाश तथा पं० रामचन्द्र देहलवी जैसे ईसाइयत और इस्लाम के मर्मज्ञ जन्म लेते रहे। खेद है कि वर्तमान में आर्यसमाज में शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन तथा तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति नितान्त कम हो रही है।

“प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।”

नियम ९ :

समष्टि हित को महत्त्व देना

आर्यसमाज के नियमों पर जब गम्भीर चिन्तन करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति एवं समाज के उत्थान का इतना सुन्दर दस्तावेज स्वामी दयानन्द ने तैयार किया है जिसे देखकर उस महापुरुष के प्रति मन कृतज्ञता से भर जाता है। कालेज में पढ़ते समय मैंने एथिक्स (आचार शास्त्र) का अध्ययन किया था। इस शास्त्र में मनुष्य के व्यवहार की समीक्षा की गई है। हमारे दर्शनाध्यापक ने बताया कि मनुष्य का व्यवहार दो प्रकार का होता है — (१) *Egoistic* — स्वार्थ की भावना से भरपूर। ऐसा व्यक्ति स्वहित को ही सर्वोपरि महत्त्व देता है। (२) *Altruistic* — समष्टि हित की बात सोचने वाला, परोपकार वृत्ति को महत्त्व देता है। नवें नियम में इसी समष्टि हित की बात की गई है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य को अपने घर, परिवार, समाज तथा राष्ट्र में विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। वह अपने हित की बात को तो सोचता ही है, उसके व्यक्तित्व में निहित परोपकार की भावना उसे अन्यो का हित करने की प्रेरणा भी देती है।

जब हम किसी सभा, संस्था या संगठन से स्वयं को जोड़ लेते हैं तो हममें सामाजिकता का एक नया आयाम प्रविष्ट हो जाता है। अब हम स्वहित चिन्तन के साथ-साथ लोक हित एवं समष्टि हित के मंगल की बात भी करने लगते हैं। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को यही उपदेश दिया था — चरथ भिक्खवे चरथ बहुजन हिताय—बहुजन सुखाय— हे भिक्षुओ ! अब संसार में जाकर बहुजन के हित की बात सोचो, बहुजन को सुख मिले, ऐसा कुछ करो। दयानन्द ने भी समाधि और मोक्ष के लाभ के महत्तम आदर्श को तुकराकर देशवासियों के दुःखों, कष्टों तथा पीड़ित

मानवता के शोक, संताप को दूर करने के लिए स्वयं को अर्पित कर दिया था। संन्यास की दीक्षा लेते समय जब कोई व्यक्ति लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा के त्याग की घोषणा करता है तो मानो 'स्व' को त्याग देता है। स्वामी दयानन्द के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए थे जब उन्होंने स्वयं यह स्पष्ट कर दिया कि उन्होंने लोकहित के कार्यक्रम को क्यों चुना? सर्वप्रथम तो उत्तराखण्ड का भ्रमण करते समय जब ऊखी मठ के महन्त ने उन्हें अपनी गद्दी सौंपने की बात की तो दयानन्द का स्पष्ट उत्तर था — "मेरे पिता के घर का ऐश्वर्य और वैभव भी कुछ कम नहीं था। यदि मुझे सांसारिक भोग भोगने होते तो मैं पितृगृह का त्याग क्यों करता? मैंने समष्टि हित को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है।" यही उनके समग्र जीवन का प्रकाश स्तम्भ रहा।

दूसरा प्रसंग सोरों (जिला एटा) का है। जब एक वृद्ध संन्यासी स्वामी कैलाश पर्वत ने उनसे यही पूछा और कहा कि उनके जैसे साधक, योगी, विद्या-निष्णात व्यक्ति के लिए तो ब्रह्मानन्द की प्राप्ति अत्यन्त सुगम है। पुनः वे क्यों इतस्ततः भटक रहे हैं और लोगों को धार्मिक अंधविश्वासों तथा सामाजिक अनीतियों से छुटकारा दिलाने के लिए प्रयत्न करते हैं। स्वामीजी का उत्तर यही था — **"मैं स्वयं एकाकी यदि परमात्मा को पा सका तो यह मेरा नितान्त स्वार्थ होगा। मेरी हार्दिक इच्छा है कि संसार के कोटि-कोटि जन मोक्ष मार्ग के अधिकारी बनें और श्रेय पथ पर चलें।"** लोकहित के इसी उदात्त भाव से प्रेरित होकर स्वामी दयानन्द ने नवें नियम में लिखा — **"प्रत्येक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।"** युवावस्था में जब मैं जोधपुर की नगर आर्यसमाज का सदस्य था और बिना नागा किए साप्ताहिक सत्संगों में जाता था तो मेरे गायक मित्र दाऊलाल टाक एक भजन प्रायः सुनाते थे। इस गीत का भाव यह था — भूखा पड़ौसी पड़ा पास में तूने रोटी खाई क्या? यदि मेरा पड़ौसी भूखा है, अभाव ग्रस्त है, पीड़ित है तो मुझे सुखी जीवन जीने का क्या अधिकार है? क्यों नहीं मैं पड़ौसी के अभाव को दूर करूं? यही सच्ची मानवता है।

इतिहास साक्षी है। अपने जन्मकाल से लेकर आज तक आर्यसमाज लोकहित के सहस्रों अनुष्ठानों को पूरा कर चुका है; कर रहा है और आगे भी करने के लिए समुत्सुक है। शिक्षा, स्वास्थ्य, आपदा-विपद निवारण, दरिद्र-नारायण की सेवा, समष्टि कल्याण के सभी कार्यक्रमों में आर्यसमाज ने स्वयं को सर्वात्मना समर्पित

किया है। बिहार, कांगड़ा और क्वेटा (अब पाकिस्तान में) में जब भूकम्प से अपार जन-धन की क्षति हुई तो आर्यसमाज ने आगे बढ़कर लोगों के कष्टों को दूर किया। १९५६ वि० (१८९९ई०) में राजस्थान में भयंकर दुष्काल पड़ा। लोग अन्न और जल के लिए तरस गए। आर्यसमाज के तेजस्वी नेता लाला लाजपतराय दलबल सहित सहायता कार्य में जुट गए। ग्रामीण बालकों को अनाथ जानकर ईसाई मिशनरी अपने अनाथालयों में ले जाने लगे तो लालाजी ने सरकार से हस्तक्षेप कर हिन्दू अनाथों को आर्य अनाथालय फिरोजपुर में प्रविष्ट करवाया। उड़ीसा में अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए महात्मा आनन्द स्वामी तथा प्रो० वेद व्यास जैसे लोगों को अकाल राहत कार्यों की देख-रेख के लिए भेजा। केरल में जब मोपला मुसलमानों ने मतान्धता का नंगा नाच किया और हजारों को मौत के घाट उतारा, धर्मान्तरण किए गए, बस्तियों को जलाया गया तथा अत्याचार एवं साम्प्रदायिक हिंसा का ताण्डव हुआ तो आर्य प्रादेशिक सभा के कार्यकर्ताओं ने वहां जाकर पीड़ित, त्रस्त तथा सताए हुए हिन्दुओं को सहायता दी।

ऋषि दयानन्द के जीवन में ऐसे अनेक दृष्टान्त देखने को मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सर्व संग परित्यागी इस संन्यासी ने चाहे गृह, परिवार और परिजनों के प्रति कोई मोह या ममता नहीं दिखाई; किन्तु भारत के लाखों-करोड़ों लोगों को भूख का शिकार, रोगों से त्रस्त, अज्ञान, पाखण्ड तथा अंधविश्वासों में जकड़े देखा तो उसकी आंखों से अश्रु-धाराएं बह निकलीं। गंगा के तट पर एकाकी विराजमान दयानन्द ने रात्रि को एक अनाथ विधवा को देखा जो अपने पुत्र के शव को गंगा में प्रवाहित करने अकेले आई, वह शव के लिए उचित कफन की व्यवस्था करने में भी असमर्थ थी। इसी करुणापूर्ण दृश्य को देखकर निःस्पृह, निर्मम, संसार से पूर्ण विरक्त दयानन्द के हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा और अश्रु संवलित नेत्रों से वे स्वदेश की त्रासदायक दरिद्रता तथा शोषितजनों की अशेष पीड़ाओं को देखकर व्याकुल हो उठे। एक अन्य घटना भी जीवनचरित में आती है। छत पर सोए हुए स्वामी जी अचानक उठ गए और मन की व्याकुलता को छिपाने में असमर्थ होकर इधर-उधर घूमने लगे। समीप सोये शिष्यगण भी जाग गए और महाराज से पूछने लगे, क्या आपको कोई शारीरिक कष्ट है, यदि है तो उसका उपचार करायें। अब स्वामी जी ने अपनी आन्तरिक वेदना और मानसिक पीड़ा का खुलासा करते हुए कहा — “मानव के हितकारी गोवंश के निर्मम संहार, पादरियों द्वारा किए जाने

वाले दलित वर्ग के धर्म परिवर्तन तथा देश के करोड़ों भूखे, नंगे, अभावों की विभीषिका से त्रस्त देशवासियों की पीड़ा को देखकर मैं सुख की नींद नहीं सो सकता। मेरे जगने और इधर-उधर घूमने का यही कारण है।" निश्चय ही स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना समाज की सेवा, दुःखी, अनाथ तथा अबला जनों के कष्टों के निवारण के लिए की थी। स्वयं की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के उद्देश्यों में उन्होंने सेवा कार्य को ही प्रमुखता से रखा था।

प्रायः यह धारणा प्रकट की जाती है कि धार्मिक पुरुषों तथा धार्मिक संस्थाओं का लौकिक समस्याओं से कोई लेना देना नहीं रहता। आज के हिन्दू धर्माचार्य और महामण्डलेश्वर भी इसी रुग्ण मानसिकता के शिकार हो रहे हैं। हिन्दू धर्म और समाज पर चाहे विपत्तियों का पहाड़ टूटे, अक्षरधाम जैसे आस्था के केन्द्र को आतंकवादी, हिंसा का शिकार बनाया जाए, हिन्दू अबलाओं की अस्मत् गुण्डे लूटते रहें, इन धर्माचार्यों को इससे कोई लेना-देना नहीं। ऐसा लगता है मानों उन्हें धर्म और समाज से दरपेश हालातों से कोई लेना-देना नहीं है। स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज धर्माचरण का अर्थ समष्टि के कल्याण से लेते हैं। यही कारण था कि स्वामी जी ने स्वधर्म, स्वराज्य, स्वभाषा तथा स्वसंस्कृति का नारा दिया। उनकी इसी राष्ट्र भावना से प्रेरित होकर कालान्तर में आर्यसमाजियों ने देश की आजादी की लड़ाई में भाग लिया। देश हित के लिए किए गए उनके त्याग और बलिदान के प्रसंग आर्यसमाज के इसी नियम के परिणाम थे जहां व्यक्ति हित की अपेक्षा बहुजन-हिताय को वरीयता दी गई थी।

यह तो ठीक है कि ईसाई मिशनरियों ने स्कूलों और अनाथालयों, अस्पतालों तथा सेवाकेन्द्रों के माध्यम से जनसेवा का उदाहरण रखा, किन्तु देश की स्वतन्त्रता के लिए उनके क्या प्रयास थे? इसके विपरीत वे तो साम्राज्यवादी शासन के पायों को और मजबूत कर रहे थे। रामकृष्ण मिशन ने भी समाज सेवा तथा दरिद्रजनों के हित के लिए अनेक कार्य किए, किन्तु इसके अनुयायियों ने स्वदेश को स्वतन्त्र कराने के लिए कोई सामूहिक प्रयास किया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत आर्यसमाज ने धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए हैदराबाद में सत्याग्रह किया, भाषा की स्वतन्त्रता के लिए पंजाब में संघर्ष किया तथा गोरक्षा के लिए अखिल भारतीय स्तर पर आन्दोलन चलाया। यह नवां नियम साक्षी है कि आर्यों को स्व उन्नति तक सीमित न रहकर अन्यो की उन्नति को जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए।

“सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।”

नियम १० :

व्यक्ति हित तथा समष्टि हित में विरोध नहीं

व्यक्ति को अपना हित चिन्तन करने तथा स्वोन्नति करने के पूरे अधिकार तथा सुविधाएं मिलें, इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु जहां व्यक्ति के हित तथा समाज के हित में संघर्ष हो, वहां यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति का हित प्रधान है या समाज की भलाई? अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक ए० जी० गार्डिनर का एक लेख बहुत पहले कालेज के दिनों में पढ़ा था— “आन दि रूल्स ऑफ दि रोड” (सड़क पर चलने के नियम)। जब एक वृद्धा लन्दन के ट्रैफ्लगर स्क्वायर पर मार्ग अवरोध चिह्न की अवहेलना कर पटरी पर चलने के बजाय बीच सड़क में चलने लगी और आरक्षी ने उसे ऐसा करने से मना किया तो वह बूढ़ी मां कहने लगी — “तुम मुझे रोकने वाले कौन होते हो? मैं तो आजाद देश की नागरिक हूं।” अब उस वृद्धा को कौन समझाये कि सड़क पर चलने के नियमों को तोड़ना आजादी का लक्षण नहीं है। इसके विपरीत जन साधारण के नियमों का पालन करने में यदि हमारे व्यक्ति हित पर भी कहीं लगाम लगती है तो उसका बुरा नहीं मानना चाहिए। आप अपने घर में बेशक धूम्रपान करें किन्तु सार्वजनिक स्थानों पर सिगरेट के धुंए के छल्ले उड़ाने की इजाजत आपको नहीं है। घर में मदिरा पीने से चाहे कोई आपको मना न करे किन्तु शराब पीकर चौराहे पर उत्पात करने या ट्रेन अथवा वायुयान में कोई बेजा हरकत करना असह्य होगा।

आर्यसमाज के दसवें नियम में समष्टि की भलाई के लिए कभी-कभी व्यक्ति हित की बलि देने को अच्छा माना गया है। सामाजिक नियम बहुजन के हित को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं जबकि व्यक्ति के हित व्यक्ति विशेष की रुचियों,

सुविधाओं तथा भलाई को प्रधानता देकर कार्यान्वित किए जाते हैं। आप अपनी इच्छा के अनुसार अपनी सन्तान की शिक्षा की व्यवस्था करें, उसे डॉक्टर या इंजीनियर बनाएं। यहां तक आप स्वतन्त्र हैं किन्तु जिस देश में शिक्षा की अनिवार्यता लागू की गई है, वहां यदि कोई नागरिक अपने बच्चों को सर्वथा निरक्षर रखना चाहे तो यह अस्वीकार्य है। इसी प्रकार समाज के व्यापक हित साधन के लिए व्यक्ति के हितों को यदा-कदा छोड़ना पड़ता है।

आर्यसमाज के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहां आर्य नेताओं तथा कार्यकर्त्ताओं ने स्वहित को एक ओर रखकर धर्म, समाज और देश के व्यापक हित को वरीयता दी। पं० लेखराम के त्याग और बलिदान को भुलाना कठिन है। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से प्राप्त स्वल्प दक्षिणा से अपने परिवार का पालन करने वाले पं० लेखराम ने पारिवारिक कठिनाइयों को सहन किया, घर वालों की बीमारी तथा तंगदस्ती की चिन्ता न कर जीवनपर्यन्त धर्मप्रचार, साहित्य लेखन तथा विधर्मियों से शास्त्रार्थ समर में जूझते रहे। यह इसी तथ्य का परिचायक है कि आर्यसमाज का कार्यकर्त्ता व्यक्ति हित की चिन्ता न कर समष्टि हित को प्राथमिकता देता है। गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द का उदाहरण देना इस प्रसंग में सर्वथा उपयुक्त होगा। यदि वे चाहते तो अपने दोनों लड़कों इन्द्र तथा हरिश्चन्द्र को कालेज और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा दिलाकर ऊंची नौकरी दिलवा सकते थे। किन्तु जब उन्होंने प्राचीन शिक्षा पद्धति का पुनरुद्धार करते हुए गंगा के तट पर गुरुकुल की स्थापना की तो उन्होंने यह आवश्यक समझा कि उपदेश देने से बेहतर खुद उदाहरण उपस्थित करना है। *Example is better than precept.* सिद्धान्त बघारना आसान है किन्तु उदाहरण प्रस्तुत करना कठिन है। लाला मुंशीराम ने अपने दोनों लड़कों को गुरुकुल में प्रविष्ट कराना ही उचित समझा। आज स्थिति विपरीत है। गुरुकुलों के संचालक और अध्यापकों के बच्चे ईसाइयों द्वारा संचालित कान्वेंट स्कूलों में पढ़कर मरियम और ईसा की मूर्ति के आगे सिर झुकाते हैं जब कि गुरुकुलों में गरीब, खस्ताहाल और साधन विहीन लोग अपने मंदमति बच्चों को पढ़ने भेजते हैं।

समाज की भलाई के लिए स्वयं के हित को त्यागने का उत्कृष्ट उदाहरण पेश किया था लाला हंसराज ने। इस युवक ने बी०ए० की परीक्षा उस समय उत्तीर्ण की थी जब ग्रेजुएट युवकों का सरकार में उच्च प्राप्त कर लेना कठिन नहीं था। उनके

समकालीन लाला मूलराज जैसे अपने हित को प्रधानता देने वाले ने एम०ए० करने के पश्चात् एक्स्ट्रा ऐसिस्टेंट कमिशनर के पद को सहज रूप से प्राप्त कर लिया था। किन्तु समाज हित को प्रधानता देने वाले लाला हंसराज किसी अन्य धातु के बने थे। उन्होंने ऋषि दयानन्द की स्मृति में स्थापित किए जाने वाले डी०ए०वी० कालेज के प्राचार्य का पद स्वीकार किया। उनका यह दिव्य त्याग इसलिए भी सराहा गया क्योंकि इस पद पर कार्य करने का उन्होंने वेतन लेना भी स्वीकार नहीं किया। सुदीर्घकाल तक अपने अग्रज लाला मुल्कराज से उनके वेतन का आधा भाग लेकर अपने परिवार का पालन करने वाले हंसराज वस्तुतः श्वेत वस्त्रों में किसी संन्यासी से कम नहीं थे। अत्यन्त सम्पन्न परिवार में जन्म लेने वाले तथा पिता की अखूट सम्पत्ति के स्वामी पं० कृपाराम ने गृहस्थ का त्याग कर धर्मप्रचार के लिए संन्यास लिया तथा स्वामी दर्शनानन्द के नाम से विख्यात हुए।

मध्यकालीन भारत में यहां के निवासियों में सार्वजनिक भावनाओं का सर्वथा अभाव हो गया था। इसके कुछ कारण तो निश्चय ही थे। इस्लाम के अनुयायी अत्याचारी शासकों ने यहां के बहुसंख्यक हिन्दू समाज के जीवन को कठिनाइयों से भर दिया था। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् अंग्रेजी सत्ता का वर्चस्व समस्त भारत में बढ़ा, किन्तु भारतीय समाज के दुःखों और विपत्तियों का अभी अन्त कहा था? वे अभी तक शोषित, पीड़ित, और त्रस्त व्यक्ति का जीवन व्यतीत कर रहे थे और विदेशी सत्ता समस्त देश को अपने अधिकार में लने के पश्चात् ईसाई मत के प्रचार तथा अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के द्वारा देशवासियों को मानसिक दासता के चंगुल में सदा के लिए बांधे रखना चाहती थी। ऐसी विषम परिस्थिति में इस देश में नवजागरण के आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज ने लोगों में सार्वजनिक चेतना जगाई और यहां के लोगों को यह अनुभव कराया कि कभी कभी व्यक्ति हितों का बलिदान कर देश हित को सिद्ध करना पड़ता है। मुझे स्मरण आता है कि प्रसिद्ध अंग्रेज विचारक तथा दार्शनिक जेम्स स्टुअर्ट मिल ने अपनी स्वाधीनता (*Liberty*) (इसका हिन्दी अनुवाद पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया था।) नामक प्रख्यात पुस्तक में लगभग ऐसे ही विचार व्यक्त किए थे जो आर्यसमाज के दसवें नियम में निहित हैं।

निश्चय ही नवजागरण के आन्दोलनों ने भारतवासियों में समष्टि के हित को प्रधानता देने के भाव भरे। ब्रह्मसमाज ने बंगाल को प्रभावित किया जबकि प्रार्थना समाज ने महाराष्ट्र (उसमें गुजरात सम्मिलित था।) के पठित वर्ग को प्रभावित

किया। किन्तु उत्तर भारत के हिन्दी भाषी प्रान्तों में आर्यसमाज ने जन-जागरण का शंखनाद किया। इससे यहां के निवासियों ने यह अनुभव किया कि अन्ततः व्यक्ति समाज का धारक है और उसके निजी लाभ तथा समाज के व्यापक हित में कोई टकराव नहीं होना चाहिए। आर्यसमाज का द्रुत गति से प्रसार हुआ और सीमान्त प्रान्त के पेशावर से लेकर पूर्व में कलकत्ता तथा जम्मू से लेकर महाराष्ट्र के दक्षिणवर्ती जिलों तक आर्यसमाज ने लोगों में सामूहिक चेतना जगाई।

सोचने की बात है कि आज भारतवासियों में सामाजिक दायित्व की भावना में कमी क्यों आ गई है? पराधीनता के युग में धर्म, समाज तथा राष्ट्र के प्रति जिस त्याग और समर्पण भाव को हमने देखा, आज वह दिखाई नहीं देता। आज का इन्सान सर्वहितकारी कार्यों में रुचि न लेकर स्वयं के उत्थान के हेतु प्रयत्नशील है। स्वार्थ साधन और जीवन में आपाधापी के प्रवृत्ति बढ़ी है। एक समय था जब महाशय राजपाल ने स्वयं कुर्बानी दी किन्तु आर्यसमाज की सामूहिक प्रतिष्ठा के प्रतीक पं० चमूपति पर आंच नहीं आने दी। आज के युग में धर्म, समाज, व्यापार-व्यवसाय, प्रशासन तथा सार्वजनिक जीवन, सर्वत्र स्वहित को वरीयता दी जा रही है। धर्माचार्य तथा कथित स्वयंभू गुरुओं ने धन, वैभव, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य के संचय को अपना लक्ष्य बनाया है। गगनस्पर्शी अट्टालिकाओं को मठ और आश्रम कहा जा रहा है। कुछ समय पूर्व तक धार्मिक कथाओं और प्रवचनों में व्यक्ति हित को पीछे रख कर समाज के हित के लिए दान देने की प्रेरणा दी जाती थी, वहां आज के कथावाचक और गुरुओं की दृष्टि अपने चढ़ावे पर अधिक रहती है।

आर्यसमाज द्वारा जब व्यापारियों, व्यवसायियों तथा सेठ-साहूकारों को समाज के हित के लिए चलाए जाने वाले कार्यक्रमों में उन्मुक्त भाव से दान देने की प्रेरणा की जाती थी तो वे मुक्त हस्त से लोक कल्याण के लिए चलाए जाने वाली प्रवृत्तियों की सहायता करते थे। आज यदि दान दिया भी जाता है तो उसमें अपनी ख्याति का भाव ही प्रधान होता है। धर्म को प्रधानता देने वाली जीवन पद्धति को न अपनाकर आज का मनुष्य नैतिक अथवा अनैतिक साधनों में कोई अन्तर नहीं देखता और येन-केन-प्रकारेण कोट्याधीश बनना चाहता है। स्वोपार्जित धन का उपयोग भी वह ऐश्वर्य पूर्ण विलासी जीवन व्यतीत करने में करता है। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज का दसवां नियम व्यक्ति हित तथा समष्टि हित में केवल सन्तुलन रखने की ही शिक्षा नहीं देता, इस बात पर भी जोर देता है कि यदि सामूहिक भलाई के लिए हमें अपने स्वत्वों में कुछ कटौती भी करनी पड़े तो यह सर्वथा उचित है।

ग्रन्थकार का परिचय



भारतीय नवजागरण में ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज की भूमिका के अधिकृत व्याख्याता डॉ. भवानीलाल भारतीय अपने विषय के तलस्पर्शी एवं प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं। १९२८ ई. में उनका जन्म राजस्थान के नागौर जनपद के गाँव परबतसर में एक मध्यवित्त परिवार में हुआ। उनकी उच्च शिक्षा जोधपुर में हुई। हिन्दी तथा संस्कृत में एम.ए.

करने के पश्चात् उन्होंने 'संस्कृत भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन' विषय लेकर १९६८ में राजस्थान विश्वविद्यालय से 'डॉक्टर ऑफ फिलासफी' की उपाधि प्राप्त की।

वे अपने युवाकाल से ही आर्यसमाज की साहित्यिक और लेखन सम्बन्धी प्रवृत्तियों से जुड़े रहे। उनका लेखनकाल चार दशकों की सुदीर्घ अवधि तक विस्तृत है और इस बीच उनके लगभग ७० ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने आर्यसमाज के ऐतिहासिक और वैचारिक पक्ष को उभारने का सतर्क प्रयास किया है, साथ ही ऋषि दयानन्द के जीवनचरित्र एवं व्यक्तित्व-विश्लेषणपरक उनके शोधपूर्ण ग्रन्थों की सुधी समाज में सर्वत्र सराहना से हुई। है। आर्यसमाज विषयक पुरातात्विक सामग्री का उन्होंने न केवल गम्भीर अध्ययन ही किया है, कि सभी स्वदेशी एवं अन्य देशस्य शोधकार्यों सम्बन्धित शोधकार्यों में उनसे सहायता एवं परामर्श लेते हैं।

ऋषि दयानन्द द्वारा स्थापित उनकी उत्तराधिकारिणी परोकारिण सभा के वे गत कई वर्षों से सदस्य हैं। महर्षि के ग्रन्थों के सम्पादन प्रकाशन में उनका मार्गदर्शन सदा से रहा है।